卐 पर्यूषणपर्व १९९५ 卐

धर्म के दस लक्षण

ब्र० प्रद्युम्न कुमार

के प्रवचनों का संकलन

अनादि निधन णमोकार महामंत्र
उपवास के उपलक्ष्य में

शकुन जैन

शकुन प्रकाशन, ३६२५ सुभाष मार्ग

नयी दिल्ली-११०००२

द्वारा प्रकाशित एवं प्रसारित

क्या-कहाँ ?

	विषय	पृष्ठ संख्या
१.	पर्वराज पर्यूषण और इसको सम्पन्न करने की विधि	३
२.	उत्तम क्षमा	६
३.	उत्तम मार्दव	१७
४.	उत्तम आर्जव	३१
५.	उत्तम शौच	४४
६.	उत्तम सत्य	५७
७.	उत्तम संयम	७२
८.	उत्तम तप	८७
९.	उत्तम त्याग	१०२
१०.	उत्तम आकिंचन्य	११७
११.	उत्तम ब्रह्मचर्य	१३३
१२.	क्षमावणी पर्व	१४९

–: श्री वीतरागाय नमः :–

पर्वराज पर्यूषण और इसको सम्पन्न करने की विधि

प्रति वर्ष की भाति इस वर्ष भी पर्वराज पर्यूषण का शुभागमन हुआ है। अन्य पर्वों की तरह यह पर्व प्रति वर्ष आता है, हम आप द्वारा मनाया जाता है, और चला जाता है, परन्तु पर्व का सम्पन्न करना हमारे द्वारा केवल एक परिपाटी व रूढ़िवादिता के रूप में ही देखा जाता है। पर्व किसे कहते हैं ? पर्व किस कोटि का है, इसमें क्या प्राण हैं, वे किसलिए आते हैं, हमें क्या देते हैं, व इनको सम्पन्न करने में हमें किस तरह का कहां विवेक रखना है ? आदि बातों के परिचय के बिना केवल दस दिन दस लक्षण धर्मपूजन करके क्षमादि दस धर्मो का उपदेश सुनकर के संतुष्ट हो जाने मात्र में पर्व की सार्थकता नहीं है। अस्तु संक्षिप्त जानकारी पर्व और उसके महत्व के सम्बन्ध में अति आवश्यक है।

पर्व पवित्र उत्सव को कहते हैं। पर्व का अर्थ है पवित्रता। याने पवित्रता का नाम पर्व है। अपने यहां जितने भी पर्व मनाये जाते हैं उन सबको मुख्य रूप से दो कोटियों में रख सकते हैं (१) धर्मपर्व (२) पुण्यपर्व। जो पर्व हमें विभाव परिणमन से छुड़ाकर स्वभावोपासना में लगने की याद दिलावें वे धर्म पर्व हैं, अथवा जिन पर्वों का पर्यूषण कर्म क्षय भावना अथवा आत्मानुभूति की भावना से किया जाता है वे सब धर्म पर्व हैं। जैसे अष्टमी, चतुर्दशी दसलक्षण धर्म व रत्नत्रय पर्व, निर्वाण दिवस आदि। पुण्यपर्व वे पर्व है जिनमें पुण्यकार्य व पुण्यभाव की ओर झुकाव होता है। जो पुण्य पुरुष के पुण्य चरित्र का स्मरण करावें व किन्हीं प्रवृत्तियों द्वारा पुण्य कार्य करने के लिए उत्साहित होने की शिक्षा देवें वे सब पुण्य पर्व है। जैसे अष्टान्हिका व जन्मजयन्तीपर्व आदि।

पर्यूषण पर्व परमपुनीत धर्म पर्व है और इस पर्व का महत्व बहुत अधिक है। यह पावन पर्व सर्व पर्वों का सम्राट है। इसे पर्वराज कहते हैं क्योंकि इस

समय अनेक व्रत व अन्य पर्व पड़ते हैं। इसका दशलक्षण पर्व नाम अधिक प्रचलित है, क्योंकि इसमें हम दस दिनों में प्रतिदिन क्रमशः उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिन्चन्य व ब्रह्मचर्य, इन दस धर्मों की भावना भाते हैं, उपासना, आराधना व साधना करते हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच धर्म ये चारों क्रम से क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के प्रतिपक्षी हैं। इन क्रोधादिक कषायों से ही पांच प्रकार के पापों में प्रवृत्ति होती है। अस्तु पांच प्रकार के पापों के अभाव से पांच धर्म प्रकट होते हैं। हिंसा पाप के अभाव से संयम, झूठ के अभाव से सत्य, चोरी के अभाव से त्याग, परिग्रह के अभाव से आकिन्चन्य व कुशील के अभाव से ब्रह्मचर्य धर्म प्रकट होता है तथा तप से निर्जरा होकर पूर्ण धर्म की उपलब्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्ति होती है। अस्तु इन उत्तम क्षमादि दस धर्मों पर ही वीतराग रूप धर्म की इमारत खड़ी होती है। 'वत्थु सहावो धम्मो,' वस्तु का जो स्वभाव है वह धर्म है। ये दसधर्म आत्मा वस्तु के स्वभाव ही तो हैं। अस्तु, आत्मस्वभाव की उपासना करके पर्व का मनाना सार्थक है। यथार्थ में आत्मा की निर्मल या वीतराग परिणति का होना ही धर्म है और वह इन उत्तम क्षमादि धर्मों की, उपासना से प्रकट होती है। इस प्रकार ये पर्व हमें निर्मल बनने की, वीतरागमय बनने की शिक्षा देते है।

गतवर्ष से इस वर्ष हमारी आत्मा में कितनी निर्मलता आयी, हममें कषाय और पाप की मंदता कितनी हुई, इस बात का लेखा जोखा हमें इन दिनों में करना है व पाठशाला की तरह दस धर्मो का पाठ पढ़कर व्यवहारिक जीवन के प्रत्येक क्षणों में इनको प्रयोग में लाना है। हमारी पूजन प्रक्षाल व व्रत उपवास आदिक बाह्य क्रियाओं के साथ साथ हमारे मनका मैल निकल जाना चाहिए। तभी आत्मानुभूति की जा सकती है। यदि अन्तर में विषय कषायों व भोगों से अरुचि नहीं हुई तो मोक्ष मार्ग की पहिचान से हम दूर रहते हैं और आत्म लाभ हमें नहीं हो पाता। भगवत्भक्ति गुरू उपासना और स्वाध्याय करने का अभिप्राय दोषों को छोड़कर निर्दोष बनने का होना चाहिए। रागद्वेष की प्रवृत्ति हम में कम हो, सर्वस्नेह और सर्व विकल्प भुलाकर यदि ज्ञानवृत्ति रूप, परमविश्रामरूप आध्यात्मिकता हम में प्रकट हो तो यही पर्व मनाने की वास्तविक सार्थकता है, और इसी में हमारी आत्मा का लाभ है।

आज का नवयुवक धर्म से उदासीन है। वह भौतिकता में आसक्त है और भौतिकता को ही उसने जीवन का सार माना है। साथियो! "धर्मरहित आत्मा

भाव मुर्दा है" इस बात को ध्यान में रख हमें निश्चय कर लेना चाहिए कि जगत में विषय प्रवृत्ति सार नही। भौतिक उपलब्धि असार है, मसली मूढ़ता भरी विडम्बना है। न कुछ असार जैसी बातों मे बहकर यदि इस अति उत्कृष्ट चैतन्य महाप्रभु का तिरस्कार करने में अपन लगे रहेंगे तो यह बात बहुत पछतावे की होगी। अस्तु, ये पर्व हमें निर्देश करते है कि हम बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनें और अपनी इन चित्तवृत्तियों को रोककर परमात्मतत्व का आश्रय लें।

उत्तम क्षमा

आज से दशलक्षण धर्म पर्व का प्रारम्भ हो रहा है। इस दशलक्षण धर्म के मुख्य दो नाम प्रसिद्ध है (१) दशलक्षण धर्म पर्व (२) पर्यूषण पर्व। दशलक्षण धर्म पर्व नाम की प्रसिद्धि तो इसलिए है कि इन दस दिनो मे हमारे द्वारा आत्मा की दस स्वभावरूप पर्यायो का आराधन किया जाता है। अस्तु इसका नाम दशलक्षण धर्म पडा, और पर्यूषण का अर्थ है पूर्णरूप से रागद्वेषादिक विकार परिणतियो को समाप्त करना, जलाना। तो ये काम इन दस दिनो मे प्रमुखता से किये जाते है इसलिए इस दशलक्षण धर्म की बड़ी मान्यता है। इस पर्व मे किये जाने वाले दशलक्षण रूप धर्म को केवल इन दिनो मे ही नही किया जाना है। अरे ये तो सदा ही किये जाने है। निरन्तर पालते रहने के है।

ये दशलक्षण धर्म तो इस आत्मा के स्वाभाविक गुण है। ये तो इस आत्मा के ही पर्व है। ये पर्व तो इस आत्मा के लिए मगल रूप है। ये तो सदा ही पालने के है। पर ये दस दिन दशलक्षण पर्व के इसलिए निर्धारित किये गये है कि ये हम आपको बार–बार इन दशलक्षण धर्मो को पालने की याद दिलाते है। हम आप मे जो रागद्वेष मोहादिक विकार चला करते है उनका शमन करने के लिए ये पर्व हमको बार–बार याद दिलाया करते है। इन दस दिनो मे इन राग द्वेष आदिक विकार भावो से हटकर अपने आप की आत्मानुभूति रूप भावना मे यत्न रहा करता है। ऐसा यत्न हम आपको केवल इन दश दिनो मे ही नही करना है बल्कि सदा करते रहना चाहिए। इसी बात की याद ये दशलक्षण पर्व के दिन कराते है। पर्व नाम है पवित्रता का। आत्मा मे पवित्रता लाने की तैयारी करना है इस दशलक्षण पर्व को मनाकर।

देखिये-अभी हम आप सबने एक रक्षाबन्धन पर्व मनाया था कुछ दिन पहिले। तब से लेकर आज दिन तक घरद्वार, मदिर मूर्नि आदि की कितनी कितनी सफाइया करते रहे लेकिन जरा अपने आपके अन्तरग का टटोल कर दखे अपने अन्दर इन रागद्वेष मोहादिक विकार भावो की कुछ सफाई हुई कि नही। और यदि कुछ सफाई हुई हो तब तो इतनी बाहरी सफाईया करने से लाभ रहा, नही

तो क्या लाभ पाया ? मूल में स्वच्छता करना है अपने अन्तरंग भावो में। इन पर्यूषण पर्वों में ही जगह-जगह प्रतिमाओं का मंजन किया जाता है तो मंजन करते-करते चाहे प्रतिमा तो घिस जाय मगर अपने अन्दर बैठे हुए ये रागद्वेष मोहादिक विकार न घिसे तो उससे लाभ क्या रहा ? अरे मूल में काम करने का यही है कि इन विकार भावों को नष्ट करें, अपनी आत्मा को स्वच्छ बनायें।

यह आत्मा स्वभावतः जिस स्वरूप वाला है उसको उस स्वरूप में लायें। अपनी वर्तमान पर्यायों को देखिये इस पवित्र आत्मा की कितनी विकृत पर्यायें हो रही हैं। अरे इन दशलक्षण पर्व में इन दशलक्षण रूप धर्मों को अंगीकार करें और क्रम क्रम से इन समस्त धर्मों की आराधना करें। इन धर्म के दशलक्षणों को अपने जीवन में उतारकर उत्तम चारित्ररूप में परिणत करें। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह पर्व भादों सुदी ५ से ही क्यों मनाया जाता है ? तो इसका हेतु शास्त्रों में आया है कि जब अवसर्पिणी काल का अन्तिम समय होता है तो प्रलय पड़ता है। इस प्रलय के बाद सावन कृष्णा १ से लेकर ४९ दिन की सुवृष्टि होती है। तो उसके हिसाब से यह भादों सुदी ५ आती है। उस सुवृष्टि के समय जो जीव किसी तरह प्रलय काल में बच गये थे गुफाओं में छिपकर, सो वे उस काल में बाहर आते हैं। उनके आचार-विचार की विशेष वृद्धि होने लगती है, लोगों में प्रसन्नता बढ़ती है, इसलिए भादों सुदी ५ के दिन से यह पर्व प्रारम्भ होता है। वैसे तो इस पर्व को वर्ष में तीन बार मनाया जाता है माघ, चैत और भाद्रपद में। पर खास करके भाद्रपद की ही विशेषता और प्रसिद्धि है। इस पर्व का बहुत बड़ा महात्म्य है।

आज दशलक्षण पर्व का प्रारम्भिक दिवस है। आज उत्तम क्षमा पर बात चलेगी। उत्तमक्षमा क्या है ? आत्मा का जो धर्म है, स्वभाव है, ज्ञाता दृष्टा रहना, उस स्वभाव के अनुसार अपना प्रवर्तन बनाना, क्रोधादिक न करना, सो उत्तमक्षमा है। क्रोध के अभाव में यह धर्म होता है। यहां क्षमा के साथ उत्तम विशेषण लगा हुआ है, उसका अर्थ है कि इस आत्मा में जो भी रागादिक विकार भाव, कषाय भाव उत्पन्न हो रहे हैं उनको विशेष रूप से नष्टकरना सो वास्तविक उत्तमक्षमा है। इन विकार भावों के नष्ट होने से अपने आत्मा में वास्तविक निर्मलता प्रकट होती है, यही वास्तविक उत्तम क्षमा है। आत्मा का उत्तम धर्म वहां ही प्रकट होता है जहां सम्यग्दर्शनगुण की प्राप्ति हो। जहां बिल्कुल विशुद्ध भावनारूप रत्नत्रय हो उस रत्नत्रय की विशुद्ध भावना में प्रथम रत्न है सम्यग्दर्शन। इसीलिए

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है "दंसणमूलोधम्मो" याने धर्म की जड़ सम्यग्दर्शन है। तो सम्यग्दर्शन पूर्वक जो क्षमा हो वह है उत्तम क्षमा।

कोई लोग ऐसा समझते हैं कि उत्तम क्षमा तो मुनियों के ही हो सकती है। हम गृहस्थों के नहीं, तो उनका यह कहना मिथ्या है। यह बात अवश्य है कि मुनि के क्षमा विशेष रूप से है और गृहस्थों के आंशिक रूप से है। अगर कोई ज्ञानी गृहस्थ है तो वह उत्तम क्षमा का पात्र बन सकता है। मुनियों के तो उत्तम क्षमा विशेष रूप से बनती ही रहती है यह क्षमारूप धर्म ही हम आप का हितकारक है। तो पहिली बात यह है कि जो क्षमा की जाय अथवा जो भी क्षमा की परिणति बनी वह परिणति आत्मा की स्वभाव परिणति है, विभाव रूप परिणति नहीं है। इस स्वभाव परिणति से ही आत्मा का विकास होता है। ये क्रोधादिक विकार आत्मा की विभाव परिणतियां हैं। इनसे इस आत्मा का पतन होता है। उत्तम क्षमा का एक दृष्टान्त देखिये-भगवान पार्श्वनाथ पर कर्मठ ने कितना उपसर्ग किया, लेकिन वे इस तरह से आत्मध्यान में तल्लीन रहे कि रंच भी विचलित न हुए। उस कमठ पर उन्हें रंच भी द्वेष न जगा। यह है उत्तम क्षमा। और, भी जैसा कि रक्षाबन्धन पर्व के दिन हम आपने पढ़ा था कि अकम्पनाचार्य आदिक ७०० मुनियों पर उपसर्ग किया गया लेकिन वे मुनिराज आत्मध्यान में तल्लीन रहे तथा बलि आदिक मंत्रियों को क्षमा देकर उन्हें सुधार मार्ग पर लाये और वे जैन धर्म के प्रति द्वेष रखने वाले बलि आदि मंत्री भी अपना कल्याण कर गये। तो क्षमा गुण एक ऐसा गुण है कि जिसके होने पर सर्व ऋद्धि समृद्धियों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार अग्नि से जल गर्म होता है, अब जल को इस अग्नि पर चढ़ा दिया जाय और कितने ही ऐसे मंत्र जपे जावें कि ऐ जल तू गर्म मत होना, शीतल ही रहना, तो क्या उन मंत्रों के उस तरह जपने पढ़ने से जल का गर्म होना कहीं मिट जायगा ? नहीं मिट सकता। ठीक इसी प्रकार ये क्रोध, मान, माया, लोभादिक विकारों को कितने ही मंत्र तंत्र द्वारा दूर किया जाय तो क्या ये दूर हो सकेंगे ? नहीं। गर्म जल को ठंडा करने के लिए अग्नि का संयोग हटाना होगा, इसी प्रकार क्रोधादिक विभावों को समाप्त करने के लिए क्षमादिक धर्मों को अपनाना होगा। जैसे कहा है ना कि–

मिश्री मिश्री के कहे, मुख मीठा नहीं होय।
मिश्री चाखे के बिना, मुख मीठा क्या होय ?
सुख हो, सुख हो के कहे, कभी न सुख यों होय।
सुख के काम किये बिना, सुख कहां से होय ?

यद्यपि प्रभु की शरण में जाने से इन विकार भावों में कुछ फर्क तो आयेगा, पर इस तरह से वे विकार भाव दूर न हो सकेंगे। अरे इनके दूर करने के लिए तो अपने आपके उस ज्ञानानन्दप्रभु की शरण में आना होगा। मूल में काम हम आपको यही करने का है कि इन विभाव भावों से हटकर अपने सत्य स्वभाव में आयें, यही आत्मा की उत्तम क्षमा है।

लोक में चाहे कोई कैसे ही शब्द कह दे प्रशंसा के अथवा निन्दा के, उनमें रुष्ट तुष्ट न होना चाहिए। अपने आपके अविकार स्वभाव का ध्यान करके इन विकार भावो को नष्ट करें, उन्हे पराजित करे, यही है सम्यग्दर्शन पूर्वक क्षमा। गृहस्थो की क्षमा के अब कुछ दृष्टान्त देखिये–जिस समय श्रीराम ने रावण पर चढ़ाई की तो उस समय भी उनके आशय मे रावण के प्रति शत्रुता का व्यवहार न था। उनका आशय निर्मल था, तभी तो बार-बार वे कहते रहे कि हे रावण तेरं से युद्ध करके मै तेरे लका पर राज्य नहीं करना चाहता। लका का वैभव नही चाहना। मै तो यही चाहता हूँ कि तू मेरी सीता को मुझे दे दे। यह है आदर्श पुरुषो की उत्तमक्षमा। आखिर जव रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा था तो श्रीरामके मित्रो ने कहा कि अब मौका है रावण को बांधकर लाने का, उसकी पूजा मे विघ्न डालने का, तो श्रीराम का यही उत्तर था कि ये विद्याधरों, क्षत्रीपुरुषों का काम नही, वह तो धर्म का कार्य कर रहा है और हम उसको ऐसे कार्य में बिघ्न डाले, यह थी श्रीराम की उत्तम क्षमा। यह था विशुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन का प्रभाव। अव एक ऐतिहासिक दृष्टान्त लीजिए-पृथ्वीराज पर मुहम्मद गोरी ने ७ बार चढाई की, पर पृथ्वीराज का उसके प्रति सदाही ऐसा क्षमा भाव रहा कि उस पर आक्रमण नही किया परन्तु हर बार समझाकर छोड़ दिया। उसका कुछ भी न छीना। आत्मरक्षा करना अभीष्ट थी हो गई, आगे कुछ नही किया, क्योंकि उसे मुहम्मद गोरी के प्रति कोई द्वेष न था। पृथ्वीराज वीर था, क्षमा उसका भूषण था। अपनी क्षमा के कर्तव्य को भूलकर वह कायर नही बनना चाहता था। वास्तव मे हम सुख चाहते है तो हमारा कर्तव्य है कि हम क्षमा को अपने जीवन में उतारे। इसके अभाव मे विना सीग पूछ वाले पशु बने रहना शोभास्पद नहीं। कितना सुन्दर लिखा है –

सत्य बात तो यह है मित्रों, क्रोध जीव का बैरी है।
क्षमा बन्धु है क्षमा मित्र है, धरो इसे क्या देरी है॥

जब तक मानव के हृदय में क्रोध के संस्कार रहेंगे कदापि क्षमा का धारी नहीं हो सकता। वह घर में रहे या बन में क्षमा के अभाव में दुःखी तथा भयभीत रहेगा। क्षमा की आचार्यों ने बहुत प्रशंसा लिखी है। वे कहते हैं–

क्षमया क्षीयते कर्म, दुःखदं पूर्व संचितम्।
चित्तंच जायते शुद्धं, विद्वेष–भय बर्जितम्॥

अर्थात् क्षमा के द्वारा पूर्व उपार्जित दुःखदायी कर्म क्षीण हो जाते है तथा चित्त विद्वेष और भय से रहित होकर पवित्र वन जाता है। तो ऐसे ही बहुत से आदर्श गृहस्थ होते हैं जिनका आशय बड़ा ही निर्मल होता है वे उत्तम क्षमा को अंगीकार करते है। यह क्षमा वीरो का भूषण है। "क्षमा वीरस्य भूषणं"!

हम आपका मूल कर्तव्य यह है कि इन रागद्वेष मोह, क्रोध, मान, माया, लोभादिक विकारों को, विभावो को दल दें, उन्हें दण्ड दें, किसी की प्रतिकूल परिणति को निरखकर उससे द्वेष न करे, उनके प्रति क्रोधभाव न लाये। क्रोधी पुरुष की दृष्टि कुक्कर दृष्टि कही गई है। जैसे कुत्ते को कोई लाठी मारे तो वह लाठी को ही चबाता है। उसकी दृष्टि ऐसी ही वनती है कि इस लाठी ने मुझे मारा। उसको सही ज्ञान नही हो पाता है कि मुझे मारने वाली यह लाठी नहीं है बल्कि यह सामने खड़ा हुआ पुरुष है। और किसी सिंह को कोई बन्दूक मारे तो वह बन्दूक पर प्रहार नही करता वल्कि सीधे बन्दूक मारने वाले व्यक्ति पर प्रहार करता है, क्योकि उसको सही ज्ञान है कि हमको मारने वाली बन्दूक नही, बल्कि यह पुरुष है। यह फर्क है ज्ञान और अज्ञान का। तो इसी तरह से समझ लीजिए कि क्रोधी पुरुष के यह ज्ञान नही हो पाता कि इसमें अपराध किसका है। अपराध तो होता है किसी का और वह समझता है किसी का। अरे विजय करना है इन क्रोधादिक कषाय भावों पर, स्वयं के रागादिक विकार विभावो पर।

एक अपने आप में उठने वाली इन असत् कल्पनाओ को मिटा दें, बस फिर क्रोधादिक विकारों की गुजाइश न रहेगी संस्कृत में क्षमा कहते है पृथ्वी को। तो जैसे पृथ्वी पर सभी लोग टट्टी कूड़ा आदि भी डालते है, कुदाली वगैरह से खोदते भी है, फिर भी पृथ्वी की ओर से सव क्षमा है। वह तो गम्भीर ही रहती है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अज्ञानियों की समस्त प्रवृत्तियों को निरखकर उनके प्रति क्षमा भाव को धारण करते है। वे सर्व स्थितियो में अपने को ज्ञायक मात्र वनाये रहते है। उनके सर्व स्थितियों में ज्ञेयों को निरखकर विकार भाव न होने से क्षमा भाव बना रहता है।

हम आप इस क्षमा का पाठ उस तरह से पढ़े जिस तरह युधिष्ठिर ने पढ़ा था। जब गुरू द्रोणाचार्य अनेक शिष्यों को पढ़ा रहे थे तो उनको पाठ याद करने को दिया "क्षमांकुरू" अब क्या था, सभी शिष्यों ने पाठ रट लिया और दूसरे दिन गुरू द्वारा पूछे जाने पर शिष्यों ने झट पाठ सुना दिया। परन्तु जब युधिष्ठिर की बारी आयी तो यह पाठ न सुना सके। कह दिया कि हमें अभी याद नहीं हुवा। जब दो तीन दिन लगातार गुरू ने युधिष्ठिर से पाठ सुनाने को कहा तो युधिष्ठिर ने यही कहा कि अभी हमें पाठ याद नहीं हुआ है। आखिर गुरू को क्रोध आया, बेंत मारना शुरू किया। तो युधिष्ठिर बराबर हंसते रहे। बाद में बोले–हां महाराज अव आज पाठ याद हो गया। —कैसे ? —जब आपके द्वारा पिट चुका तब भी मुझे क्रोध न आया तव मैंने समझा कि वास्तव में अब पाठ मुझे याद हो गया। इससे गुरू पर भी वड़ा असर पड़ा व समझ लिया कि हां वास्तव में उत्तम क्षमा को हम आप प्रायोगिक रूप से धारण करें तभी हम आपका कल्याण है।

यों तो उत्तम क्षमा का दिन हर वर्ष में आता है, पर्व भी न जाने आज तक हमने कितने ही मनाये हैं, पर यों ही उत्तम क्षमा आदिक पाठ सुन लिया और उसे चित्त में धारण न करके उतार दिया तो बताइये ऐसे पाठ सुनने से क्या लाभ पाया ?

एक बात पर और भी विचार करें कि गाली के जिन शब्दों को सुनकर लोगों को क्रोध उमड़ पड़ता है वे शब्द है कितने अच्छे। वास्तव में भैया ! गाली है क्या ? दुनियां में गाली का कोई शब्द ही नहीं है। गाली का प्रचार ही नहीं हुआ है, किन्तु छोटे पुरुषों से वड़ी वातें कही बस उसने उसे गाली समझा। जैसे किसी गरीब आदमी से आप कहो कि आइये कुबेर जी आइये तो वह व्यक्ति उन वचनों का क्या अर्थ करेगा ? वह तो अपनी निन्दा ही समझेगा, इसी तरह छोटे आदमी से वड़े वचन कहे, जिसमें जो योग्यता नहीं है उसे प्रशंसा के शब्द कहे किन्तु उन पुरुषों ने उसे गाली समझा। शब्द को ही देखलो ना, गाली, अर्थात् गायी क्या जानी है ? प्रशंसा ही तो गायी जाती है। गाली के शब्द कितने अच्छे हैं, उनका अर्थ क्या है इस पर विचार कीजिये–जैसे किसी ने कहा-पाजी, पाखंडी, कुलच्छी, उचक्का, पुंगा, निपोरा, नंगा आदि। पाजी-का क्या अर्थ है ? जो पापों को जीत ले, अर्थात् सिद्ध भगवान। पाखंडी का अर्थ है पापों का खंडन करने वाला अर्थात् अरहंत सिद्ध। कुलच्छी का अर्थ है अच्छे कुल वाला, उचक्का का अर्थ है ऊंचे कुल का, पुंगा का अर्थ है श्रेष्ठ पुरुष, निपोरा का अर्थ है नि मायने

नहीं, पोर मायने गांठ अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की गांठ न हो, ऐसा निष्कषाय पुरुष। नंगा का अर्थ है निष्परिग्रही साधु। इसी प्रकार जानवर, जान मायने ज्ञान, वर मायने प्रधान, अर्थात् जो ज्ञान में प्रधान है। तो देखिये–ये जितने भी गाली के शब्द हैं वे कितने ऊंचे व्यक्ति का संकेत करते हैं, पर ये मोही मलिन अज्ञानी प्राणी इन शब्दों का अर्थ न जानकर उन्हें गाली रूप में मान लेते हैं और उन शब्दों को सुनकर रुष्ट हो जाते हैं। ज्ञानी पुरुष इन शब्दों को सुनकर प्रथम तो यह विचार करता है कि ऐसा वचन बोलकर मुझे यह सावधान कर रहा है, सचेत कर रहा है। मैं क्यों व्यर्थ में इन शब्दों को सुनकर रोष करूं। और फिर उसका यह शब्द कोई मुझे शारीरिक पीड़ा तो नहीं दे रहा है जिससे मुझे कोई कष्ट हो जाने वाला हो, ऐसा विचार करके वह रुष्ट नहीं होता, बल्कि सावधान होता है, और उसको उपकारी देखता है। वह जानता है कि अपने आपको सावधान रखने में ही अपनी रक्षा है। तो यही है उसकी वास्तविक उत्तम क्षमा।

ज्ञानी पुरुष तो इन प्राणों की बाजी आ जाने पर भी अपने प्राणों तक की भी अपेक्षा नही करते। वे तो अपने ज्ञान स्वभावी निज आत्मस्वरूप की रक्षा करते हैं और उस ज्ञान स्वरूप आत्म तत्व में ही निमग्न होकर, रक्षित होकर अपने आपको सुखी अनुभव किया करते हैं। ऐसी ही उच्च भावना हम आप बनावें तो सही रूप में उत्तम क्षमा प्रकट होगी। जैसे कहा है ना कि –

कष्टे प्राणानुपेक्षन्ते, ज्ञानं रक्षन्ति योगिनः।
ज्ञानंज्ञाय प्रियं तत्स्वे, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥

अर्थात् योगीजन कष्ट उपसर्ग होने पर प्राणोंकी उपेक्षा करते हैं और ज्ञानको रक्षित करते हैं, क्योंकि निश्चय से ज्ञानी के लिए ज्ञान ही प्रिय है। वह ज्ञान स्व में ही तो है इस लिए अव स्व के अर्थ स्वयं सुखी होऊ। अस्तु क्रोधाग्नि को बुझाने के लिए क्षमाके अतिरिक्त और कोई शीतल धारा नहीं है।

कोई सांचे कि भगवान का ऐसा उपदेश है इसलिए हमको सबके प्रति क्षमा भाव रखना चाहिए अथवा क्षमाभाव रखने से स्वर्गादिक की विभूतियां प्राप्त होतीं हैं, अथवा अगर हम क्षमाभाव नहीं करेंगे तो हमारी प्रतिष्ठा में धब्बा लग जायेगा। तथा क्रोध करने से नरकादिक गतियो में जाना पड़ेगा आदि ऐसी अनेक बातों को रखकर कोई उत्तम क्षमा धारण करना चाहे तो वहां वास्तव में उत्तम क्षमा का धारण नहीं हो पाता। अरे चित्त में तो कोई कषाय भाव लिए बैठे है, क्रोध वासनाओं की समाप्ति ऐसे प्रयोजनों में कहां ? जहां अपने क्षमा शील

आत्मस्वभाव का परिचय नहीं हो पाया। उत्तम क्षमा का धारण तब हो सकेगा जबकि यह परिचय हो जाय कि मेरा यह आत्मा सहज ही उत्तम क्षमा स्वभाव वाला है। एक जगह पं० गोपालदास जी बरैया ने अपनी स्मृतिमे लिखा है कि एक बार सर्दी के दिनों में बाहर गया हुआ था। सो रात्रि को मै घर आया। मेरी स्त्री सो रही थी। मैंने दरवाजा खटखटाया, स्त्री जगी और गुस्सा भरे शब्दों मे बोली– कौन दरवाजा खटखटा रहा है ? (उनकी स्त्री क्रोधी प्रकृति की थी) तो मैने धीरे से बताया, तो उसने किवाड़ तो खोल दिये, पर इतना क्रोध उसे नींद मे बाधा होने से आया कि वहां रखा हुआ अत्यंत ठंडाजल मेरे ऊपर डाल दिया। मैंने शान्त भाव से कहा कि तुम अब तक तो गर्जी थी मगर आज बरस भी गयी हो। आखिर अपने क्षमा स्वभाव से उन्होने जीवन भर अपनी स्त्री से यही कहा कि तूने बहुत अच्छा किया जो मेरे लिये कर्मनिर्जरा का कारण तो बनी। तो देखिये–यह है आदर्श गृहस्थ की उत्तमक्षमा।

अब कहते है कि किसी के द्वारा अपकार के, अपयश के अपशब्दो के वचन कहे जाने पर भी अपने आपको सावधान बनाये रखना चाहिए और उसके प्रति क्षमाभव ही लाना चाहिए। उस समय यही सोच लेना चाहिए कि यह मुझे अपशब्द कहकर मुझको सावधान बना रहा है तथा यह पुरुष मुझे गाली देकर अपयश, निन्दा के वचन बोलकर खुश हो रहा, तो चलो मैं इसके काम तो आया। भला मेरे द्वारा इसको सुख तो पहुचा। दूसरे को खुश करने के लिए लोग तो बहुत-बहुत कुछ देकर के भी खुश करते है परन्तु यह तो मुफ्त में ही खुश हो गया, ऐसे पावन विचारो के द्वारा उत्तमक्षमा का अवसर प्राप्त होता है। इसी प्रकार भगवतीदास, बनारसीदास आदि के दृष्टान्त मिलते है। एक बार बनारसीदास जी पेशाब करने के लिए रात्रि के समय में राज दरबार से निकले, तो बाहर निकलकर रास्ते में ही पेशाब करने बैठ गये। वहां पर था रात्रि में पहरा देने वाला नौकर, उसने बनारसीदास के दो-तीन थप्पड़ मार दिये इसका पता राजा को लगा, तो राजा ने उस नौकर को अपने पास बुलाया, वह बेचारा डरता हुआ, कांपता हुआ राजा के पास गया। जब उसने वहा बनारसीदास जी को देखा तो और भी भयभीत हो गया। सोचा कि आज तो शायद मुझे बड़ा कड़ा दण्ड मिलेगा। तो उस समय बनारसीदास जी ने राजा से कहा कि इस नौकर को आप कितने रुपये माहवार वेतन देते है ? तो राजाने कहा–१०/- माहवार। बनारसीदास जी बोले–इसके २/- माहवार और बढ़ा दीजिये, क्योंकि वह अपनी ड्यूटी का पक्का निकला।

मैंने रास्ते में पेशाब किया तो इसने पेशाब करने से मना ही तो किया। यह है उनका हम सबको उत्तमक्षमा का पाठ पढ़ाने वाला जीता जागता उदाहरण।

एक दृष्टान्त और भी देखिये—कोई एक फकीर था, वह किसी गांव के निकट ठहरा हुआथा। उस गांव के किसी दुष्ट पुरुष ने उसको कुछ अपशब्द कह दिये- उन मर्मभेदी शब्दों को वह फकीर बड़ी तन्मयता से सुनता रहा। जरा भी विकार भावों को प्राप्त नहीं हुआ। जब उस व्यक्ति ने अपशब्द कहना बन्द कर दिया तो फकीर बोला—भैया, जरा उन्हीं शब्दों को आप पुनः दुहरा देने का कष्ट कीजिये तो वह पुरुष बोला—अरे मेरे उन शब्दों में ऐसी क्या बात है जो तुम उन्हें दुहराने के लिए कहते हो ? तो वह फकीर कहता है कि अरे तुमने तो उन शब्दों के कहने में इतना श्रम कर लिया कि हांफ भी गये, पसीना भी आ गया, आंखें लाल हो गई, सारा शरीर कंप गया, बड़ा श्रम कर डाला आपने और हम उनको शान्ति से सुन भी न सके तो फिर मुझसे अधिक पतित और कौन होगा ? तो देखिये—फकीर के ऐसे शब्दों को सुनकर हम आप भी ऐसी शिक्षा लें कि कोई चाहे कितने ही अपशब्द कहे पर उससे रोष न लायें, उस पर क्षमाभाव धारण करें।

और भी एक दृष्टान्त है कि कोई एक कंजूस सास थी, उसका दामाद एक बार उसके घर आया तो सास ने सोचा कि अब तो हम बड़े खर्चे में पड़ जायेंगे, रोज अगर हलुआ पूड़ी बनाई तब तो तीन चार रूपये का नुक्ता रोज बैठेगा, सो निश्चय किया कि खिचड़ी बना दिया करेंगे। सास बोली उस दमाद से कि बेटा तुमको हम ऐसा भोजन करायेंगे जिससे तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा रहे। अच्छी बात। पहिले दिन सास ने खिचड़ी बनाई। जब दमाद खाने बैठा तो उसमें घी तो डाला न था सो वह एक-एक दाना उठाकर खा रहा था। सासूजी ने यह देखकर कहा कि एक-एक दाना उठाकर क्यों खा रहे हो ? बोला-घी के बिना खिचड़ी अच्छी नहीं लगती, घी तो डाल दीजिये। सो पास में एक घी का डबला रखा था, जाड़े के दिन होने से जम गया था। सास ने सोचा चलो घी की हवा तो थाली में दिखा ही दें सो उस डबले को उसकी थाली में औधा दिया। घी तो गिरा नहीं, पर कहा-अच्छा लो यह घी की गंध दे दिया। दमाद ने सोचा कि इतनी होशियार सास है कि इसके साथ हमारी कोई कला ही नहीं चलती। सो उसे एक उपाय सूझा। अपने पास जल से भरे हुए गिलास को लुढ़का दिया सो सारा जल जमीन में बह गया। सास उस गिलास में जल भरने चली गयी, इसी बीच में दमाद ने क्या कि पास में जलने वाली आग में उस घी के डबले को तपाकर यथास्थान रख

दिया । सारा घी पिघल गया, और फिर वह पहिले की ही भांति एक-एक दाने को उठा-उठा कर खाने लगा । जब सास पानी भरकर गिलास लायी तो पूछा बेटे अब तुम क्यो नही खिचड़ी को अच्छी तरह खाते ? तो वह बोला-क्या करूं मांजी अभी खिचडी मे घी पड़ा ही नही है । थोड़ा घी और डाल दो । इस बार जब घी उसी डबली को पहिले की ही भाति उसने थाल मे औंधाया तो सारा का-सारा घी थाल मे आ गया । अब तो सास बहुत घबड़ायी मगर फिर सास को एक उपाय सूझा । क्या उपाय किया कि दमाद से बोली कि बेटा तुम हमे बहुत प्रिय हो, तुम पर हमारा बहुत स्नेह है । हमारा जी चाहता है कि आज अपन दोनो एक साथ बैठकर इसी थाली मे खिचड़ी खावे । अच्छी बात । जब सास खिचड़ी खाने लगी तो दमाद को तो बातो मे लगाये हुए थी कि देखो बेटा तुम्हारे भैया हमारी लड़की को यो कहते है, तुम्हारे पिता उसको यो कहते है, तुम्हारी मा उसको यो बोलती है आदि, और एक हाथ से वह थालीका सारा घी अपनी ओर करती जाय । अब वह दमाद सोच रहा था कि देखो यह सास कितनी चालाकी हमारे साथ खेल रही है । तो उसने भी एक उपाय किया । अपनी कला दिखायी उसने थाल को उठाया और बोला कि देखो तुम्हारी लड़की को चाहे जो कोई कुछ भी कहे पर उन सारी बातो को तो उसे यो (मुह मे सारा घी डालकर) पी जाना चाहिए । तो इस दृष्टान्त से हम आपको यह शिक्षा लेना चाहिए कि कोई हमे कुछ भी कहे उन सब बातो को हमे पी जाना चाहिए । उसमे रुष्ट न होना चाहिए, कषाय भाव न लाना चाहिए । उसके प्रति उत्तम क्षमाभाव ही धारण करना चाहिए । यही हम आपकी उत्तम क्षमा है । यह क्षमा प्राणियो के सताप को हरने वाली, चादनी के समान अत्यत निर्मल और श्रेष्ठ है । ज्ञानीजन उत्तम क्षमा का लाभ चितामणि रत्न के समान मानते है । क्षमा ही लोक मे परम शरण है । माता के समान रक्षा करने वाली है । कर्मनिर्जरा का कारण है । सब उपद्रव दूर करने वाली है । इसीलिए कहा है कि–

मित्र क्षमा सम जगत में, नहीं जीव का कोय ।
अरु बैरी नहीं क्रोध सम, निश्चय जानो लोय ।।

क्रोध जीव का बैरी है, इस जीव के संयमभाव, सतोष भाव, निराकुलता के भाव को दग्ध करने के लिए अग्नि समान है क्रोध से यश नष्ट होकर अपयश बढ़ता है । क्रोध मे धर्म अधर्म का विचार नष्ट हो जाता है । विवेक जाता रहता है । क्रोधी समस्त धर्म को लोप कर लोक निन्द्य वचन बोलने लगता है तथा माता

पिता, पुत्र, स्त्री, बालक, स्वामी, मित्र को मारकर प्राणरहित तक कर देता है। इतना ही नहीं बहुत तीव्र क्रोधी हो तो अपने आप का ही विष भक्षण से, शस्त्र से मरण कर लेता है। ऊंचे मकान, पर्वत आदिक से गिरता, कुयें में पड़ता, अस्तु यह क्रोध तो यमराम तुल्य है। महा पाप बंध कराकर नरक में पहुंचाने वाला है। जैसे द्वीपायन मुनि क्रोध के आवेश में ही आकर स्वयं नरक गया और द्वारिका भी भस्म हो गई। अस्तु इस क्रोध से हानियाँ जानकर इसे छोड़ना चाहिए और क्षमा को अंगीकार करना चाहिए।

वास्तव में उत्तम क्षमा वह है जो वीतरागता रूप हो, मेरा स्वरूप, मेरा स्वभाव किसी भी प्रसंग में द्वेष करने का नहीं है। मैं तो ज्ञानस्वभावी हूं, ज्ञान को ही करता हूं, ज्ञान को ही भोगता हूं। जानन देखन हार रहना ही मेरा काम है। ऐसी प्रतीति पूर्वक ही उत्तमक्षमा धर्म प्रकट होता है। इसलिए सदैव ऐसा विचार करो –

खम्मामि सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्तीमे सव्वभूदेसु वैरं मज्झं ण केणवि ॥

अर्थात् मैं सब जीवों पर क्षमा करता हूं व सब जीव मुझ पर क्षमा करें। मेरा सर्व प्राणियों में मैत्री भाव है, मुझे किसी से भी वैर भाव नहीं है।

इसलिए हे भव्य जीवों ! सदैव क्षमा को धारण करो, पूर्वकर्मकृत आये हुए उपसर्गों को समता रूपी जल से ही बुझाना श्रेष्ठ है हमारा यही कहना है कि इस चाण्डाल क्रोध पिशाच से पिण्ड छुड़ाकर क्षमा का पथ पकड़ो जिससे जीवन सुखी शान्त और समृद्ध बनेगा। पूजन के इस भाव को याद करो।

पीड़ैं दुष्ट अनेक, बांध मार बहु विध करैं।
धरिये क्षमा विवेक, कोप न कीजें प्रीतमा ॥
उत्तमक्षमा गहो रे भाई, इह भव जस परभव सुखदायी।
गाली सुन मन खेद न आनो, गुन को औगुन कहैं अयानो।
कहि है अयानो वस्तु छीने, बांध मार बहुविध करैं।
घर तैं निकारै तन विदारै, वैर जो न तहां धरै ॥
तैं करम पूरब किये खोटे, सहै क्यों नहिं जीयरा।
अति क्रोधअग्नि बुझाय प्रानी, साम्यजल ले सीयरा ॥

(ॐ ह्रीं उत्तमक्षमा धर्मांङ्गाय नमः)

उत्तम मार्दव

धर्म तो एक वीतराग रूप ही है। परन्तु वीतराग रूप धर्म के प्रकाशन के लिए भेद दृष्टि निमित्त दृष्टि से दस धर्मो का व्याख्यान किया जा रहा है। यह जो दस धर्मो का व्याख्यान इस पर्यूषण पर्व के दस दिनो में किया जा रहा है। उसका मूल प्रयोजन है कि हम इन दसधर्मो की आराधना करके आत्मा का जो वीतराग विज्ञान घन अखण्ड धर्म है उसकी प्रीति करें। आज उन दस दिनो में दूसरा दिन है । इस दिन मार्दव धर्म की बात चलेगी। मार्दव किसे कहते है ? 'मृदोर्भाव मार्दव', अर्थात् कोमलता के परिणाम का नाम मार्दव है। आत्मा में कठोरता न हो, अभिमान न हो, उद्धतपना न हो और इससे विपरीत विनय का होना इसका नाम मार्दव धर्म है। यह मार्दव धर्म मान कषाय के अभाव से प्रकट होता है। मान कषाय का अभाव अथवा इस मार्दव धर्म का प्रादुर्भाव तब तक नही हो सकता जब तक कि मूल में सम्यग्दर्शन न हो। बिना सम्यग्दर्शन के तो लोग अपने में अभिमान भरे रहते है, जरा भी नम्र नहीं हो सकते। क्योंकि जहां मिथ्या आशय है वहां यह बात बसी हुई है कि ये पर पदार्थ मेरे है और मै इनका करने वाला हूं मै इनका पालक हूं, ऐसे मिथ्या आशय में विनय कहां आ सकती है ? नम्रता कैसे बन सकती ? वहां तो अहंकार का परिणाम ही बनता है और जिस ज्ञानी पुरुष के अतरंग में ऐसा मिथ्या आशय दूर हो गया है और अपने आपका जो चैतन्य भाव है उस ओर दृष्टि किये हुए है ऐसे ज्ञानी पुरुष के पर पदार्थो में क्या अभिमान होगा ? जहां पर पदार्थो को अपना माना ही नही जा रहा है, पर पदार्थो से अत्यंत भिन्न अपने एकत्व स्वरूप का परिचय हुआ है वहां ही कोमलता, नम्रता और विनय हो सकती है। अभिमान तो वहां होता है जहां परपदार्थों में कर्तृव्य बुद्धि हो, मै इसका करने वाला हूं, मै न होऊं, तो यह काम नहीं हो सकता। इस प्रकार का जो भीतर में मिथ्या आशय है यही अहंकार है। जब तक इस अहंकार को न हटाया जायेगा तब तक इन पर पदार्थों को अर्थात् जाति, रूप कुल, बल आदिक को निरखकर इनमें अहंकार भाव बना रहेगा और आत्मा कोमलता से दूर रहेगा।

दूसरे की महिमा में अपनी महिमा मानना यह ही अनन्ताभिमान है। यदि एक बार भी यह जीव बाहरी पर पदार्थों की इस ममता को छोड़कर उन्हें असार और अहितकारी जानकर उनकी ओर दृष्टि न देकर अपने आपके अंतरंग विभूति की ओर दृष्टि दे तो इसको अपने आपके अन्दर विराजमान अनन्त ऐश्वर्य से सम्पन्न उस परमात्मा के दर्शन होंगे। मैं तो अनन्त विभूति का स्वामी हूं, ऐसा जब अपने आपको पता पड़ेगा तो फिर यहां की इन छुटपुट विभूतियों में (चीजोंमें) अहंकार न किया जायगा। अरे ये दिखने वाले समस्त बाह्य पदार्थ अचेतन हैं, क्षणभंगुर हैं मिट जाने वाले हैं। इनमें क्या अभिमान करना ? अभिमान के दो प्रकार हैं (१) स्वाभिमान और (२) पराभिमान। स्वाभिमान तो वह है जहां अपने कर्तव्य बल की बात वसी हो। जैसे मै हूं तो ऐसे उच्चकुल वाला और क्या नीचता के काम करूं। ऐसा नही हो सकता। तो यह हुई एक स्वाभिमान की बात। और, पराभिमान वह है जो इन वाह्य पदार्थों में वडप्पन मानकर किया जाता है। मै ऐसे उच्चकुल वाला हूं, ऐसी विभृति वाला हूं, ऐसी इज्जत वाला हूं, मेरी ऐसी पोजीशन है आदि। अपना जो वास्तविक स्वभाव है उसकी प्रतीति होने पर क्या अहंकार किया जायगा ? वह तो स्वरूप ही है। तो इन वाहरी पदार्थो में अहंकार ममकार कर्तव्य भोक्तृत्व ये जो चार प्रकार की बुद्धियाँ बनती हैं उन्हें छोड़े और अपने आपके चैतन्य स्वभावरूप निर्मल रूप का ध्यान करे। उसी की प्रतीति बनायें तब यह मार्दव धर्म प्रकट होगा।

आगम में बताया है कि यह मान कषाय ८ प्रकार के आश्रयों को लेकर हुआ करती है। समंतभद्राचार्य स्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है कि–

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्यमानित्वं, स्मयमाहुर्गतस्मयः॥

अर्थात् ज्ञान, पूजा, कुल जाति, शक्ति, ऋद्धि, तप और शरीर, इनके आश्रय से लोग मद करते हैं और इस प्रकार मद के ८ भेद हैं। अब कहते हैं कि इन ८ प्रकार के मदों को ज्ञानी पुरूष छोड़ता है।

(१) ज्ञान का मद :– जरा सा क्षायोपशमिक ज्ञान पा लिया, कुछ दस पांच ग्रंथों का ज्ञान कर लिया, थोड़ा उपदेश देना भी सीख लिया तो लोग ऐसा अहंकार करते हैं कि मैं बहुत पढ़ा लिखा हूं। ज्ञानी हूं, विद्वान हूं। अरे प्रथम वात तो यह है कि यह ज्ञान कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट हुआ है, दूसरी बात यह है कि यह ज्ञान इन्द्रियाधीन है। जब तक इन्द्रियां हैं तब तक ही बाहरी ज्ञान पाया जाता

है। तो ऐसे तुच्छ ज्ञान में क्या मद करना ? अरे लोक में और भी तो बहुत से विद्वान पड़े हुए हैं, फिर इस थोड़े से ज्ञान को पाकर उसमें मद करना, यह एक कितनी भूल भरी बात है। ज्ञानी जानता है कि इन वस्तुओं का अभिमान करना व्यर्थ है, क्योंकि ये सभी वस्तुयें अस्थिर हैं, क्षणभंगुर हैं इनके पंख लगे हुए हैं और ये कभी भी उड़कर दूर भाग सकती हैं। अतः ऐसी अस्थायी व क्षणिक वस्तुओं का क्या अभिमान करना ? ऐसे अज्ञान परिणाम को छोड़ना ही योग्य है।

आचार्यदेव ने समझाया है कि हे आत्मा तू इस थोड़े से ज्ञान का मद छोड़। अरे तेरे में तो जो पूर्ण ज्ञान सागर है (केवलज्ञान) उसको तू देख, उसकी महिमा को निरख। तेरे उस केवलज्ञान में तो ऐसी महिमा है कि तीन काल के समस्त पदार्थों को उसके द्वारा एक झलक मे स्पष्ट देख सकता है। तो ऐसे केवलज्ञान स्वरूप होकर तू ऐसे तुच्छ ज्ञान मे अहकार मत कर इस प्रकार का यदि अपने आत्मस्वरूप का परिचय हो तो इस जीव को फिर इस अपने थोड़े से ज्ञान मे मद नही हो सकता है। अरे सभी जीव ज्ञान से लबालब भरे हुए है यह तो कर्मो के क्षयोपशम की बात है कि जो किसी को कम ज्ञान मिला किसी को अधिक। स्वरूपत तो सब अनन्त ज्ञान के धनी हैं। तब फिर कुछ थोड़ा सा विशेष ज्ञान पाकर अपने को ज्ञानी मानना और दूसरे को तुच्छ गिनना यह उचित नहीं है। एक बात और भी है कि सम्पूर्ण ज्ञानों में कोई पूर्ण नहीं हो सकता। भला ऐसा कौन होगा जो सम्पूर्ण कलाओं का पारगामी हो ? किसी मे किसी बात का अधिक ज्ञान है किसी को किसी बात का, फिर इस थोड़े से ज्ञान को (ज्ञान की कला को) पाकर अपने आप में मद (अहंकार) करना यह बड़ी भारी भूल है।

एक कोई नवयुवक बी. ए. पास समुद्र की शैर करने गया। नाविक से कहा कि मुझे नाव में बिठाकर समुद्र की सैर करा दोगे ? —हां हां करा देंगे। तीन रुपया लेंगें। अच्छी बात। सो नाव में बैठकर चला। अब पढ़े लिखे लोग तो बहुत बातें करते ही हैं, सो उसे बातें तो करनी ही थी, अब वहां किससे बातें करे ? नाविक ही था। सो नाविक से बहुत बातें की। उसी बातचीत के सिलसिले में उसने पूछा कि ऐ नाविक तुम पढ़े लिखे हो कुछ कि नहीं ? नाविक बोला—नहीं बाबूजी, हम तो कुछ भी पढ़े लिखे नहीं हैं। तो क्या ए० बी० सी० डी० भी नहीं पढ़ा ? -नही बाबूजी।- तो क्या अ आ इ ई भी नहीं पढ़ा ? -नही बाबूजी। तब बाबूजी बोले-गधे, नालायक, बेवकूफ ऐसे ही लोगों ने तो भारत को बरबाद कर दिया है। वह बेचारा पढ़ा लिखा तो था ही नहीं, कुछ न बोला। सब सुन

लिया । पर जब नाव कुछ आगे बढ़ी और समुद्र मे नाव भवर मे फसने लगी, डगमगाने लगी तो वह युवक घबडाया, उस समय नाविक बोला—कहो बाबूजी तुमने कुछ तैरना सीखा है कि नही ?- नही सीखा ।-तो क्या बिल्कुल भी नही सीखा ?-हा बिल्कुल ही नही सीखा । तो नाविक ने भी अब उस नवयुवक को उतनी ही गालिया सुनाई गधे, नालायक, बेवकूफ-ऐसे ही लोगो ने तो भारत को बरबाद कर दिया । तो अब बताओ यहा सम्पूर्ण कलाओ का ज्ञाता कौन है ? अर कोई किसी कला को जानता है कोई किसी कला को । तो यहा किस बात का अहकार करना ? इस मान कषाय का मर्दन करने से ही हम आपका भला है ।

(२) **पूजामद :—** इस पूजामद मे अपने सामन दूसरो को तुच्छ, नगण्य और हीन मानने रूप भाव होते है । अगर कोई लोक म प्रतिष्ठा आदर सम्मान पाने लगे तो लोग उसी का मद करने है । तो पहिली बात तो यह देखो कि ये प्रतिष्ठा करने वाले लोग कौन है और जिसकी प्रतिष्ठा की जा रही है वह कौन है ? अरे ये प्रतिष्ठा करने वाले लोग तो य मोही अज्ञानी प्राणी है । मलिन है, कर्म के परे है, और फिर ये प्रतिष्ठा किस की करते है ? इस मायामयी पुद्गल की, (शरीर की) । यहा तो माया की माया से पहिचान हो रही है । कोई किसी के वास्तविक स्वरूप को लखकर उसकी प्रतिष्ठा नही करता । तो ज्ञानी पुरुष ऐसा जानकर इस लौकिक प्रतिष्ठा की बुद्धि को छोड देता है । ज्ञानी पुरुष तो अपने ज्ञानस्वरुप मे ही प्रतिष्ठित रहकर अपन को पूर्ण मानता है, प्रतिष्ठित मानता है, वह इन बाहरी चीजो से अपने मे मद नही करता । इस अहकार के वशीभूत होकर ऐसा व्यवहार करने लगता है यह प्राणी कि जिससे दूसरो का तिरस्कार होता है, इसकी प्रतिक्रिया दूसरो के मन मे भी होती और तब आदर पाने के बजाय व घृणा का पात्र बन जाता है । और एक दिन पूजा के शिखर पर विराजमान उस घमडी व्यक्ति का लोगो की दृष्टि मे पतन हो जाता है । इस प्रकार घमडी का सिर सदा नीचा ही होता है । दूसरो से पूजा पाकर इतराना क्या ? यह तो पूर्वजन्म के पुण्य का फल है । यदि पुण्य को सुरक्षित रखना है ओर बढाना है तो अपने आपको अत्यत विनम्र बनाना चाहिए । इन बाहरी बातो पर मद न करना चाहिए । अभिमान करने से तो पुण्य क्षीण हो जाता है आर इसकी सारी प्रतिष्ठा धूल मे मिल जाती है ।

(३) **कुल का मद :—** मे उच्च कुल का हू, लोगो को तो मेरी उसी तरह से प्रतिष्ठा करना चाहिए जैसे कि मेरे पिता की होती थी । देखिये—पिता के कुल से

अपने कुल का मद किया जा रहा है। अरे पिता का जैसा आचरण तो बनाना चाहते नही और चाहते हैं वैसी ही प्रतिष्ठा, तो यह बात बन कैसे सकेगी ? अरे इस कुल का क्या मद करना ? जरा इस बात पर भी तो कुछ विचार करो, जब सूकर गधा आदिक के भव में थे तब कौन सा वहां कुल था ? अथवा कीट पतिंगा आदिक के भव मे थे तव कौन सा वहां कुल था ? इस कुल का क्या मद करना ? तेरा वास्तविक कुल तो चैतन्य कुल है। इस चैतन्य कुल को ही अपना वास्तविक कुल समझ। यहां के कुल का मद छोड़ दे।

(४) **जाति का मद :–** माता के पक्ष को जाति कहते है। लोगो को अपनी जाति का भी मद होता है। हमारे मामा बडे प्रतिष्ठा वाले है। उनका वडा चला है। इसी वात को लेकर यह जाति का मद होता है। इस जाति मे क्या मद करना ? तेरी जाति ता है चैतन्य जाति। उस चैतन्य जाति की महिमा को तू जान। वही है तेरी असली जाति। इस लौकिक जाति मे गर्व मत कर। इस चैतन्य जाति की अगर सही पहिचान होगी तो फिर लौकिक कुल जाति आदिक के परिणाम न बनेगे। और अपने आपके अन्दर इस मार्दव धर्म की प्रादुर्भूति होगी।

(५) **बल का मद :–** मै ऐसी पोजीशन वाला हू। मेरे पास इतना वैभव है, ऐसा खजाना है, मुझे ऐसा वल प्रगट हुआ है, ऐसे बाहरी पर पदार्थो के वल को लेकर मद करना सो बल का मद है। यह वात बहुत प्रसिद्ध है कि रावण के पास बहुत वल था। उसके पास सव वैभव था लेकिन इसी बल के मद के कारण ही रावण की वरबादी हुई। श्रीराम अन्त तक उससे यही कहते रहे कि ऐ रावण मुझे तेरा वैभव न चाहिए। तू मेरी सीता को वापिस दे दे। बस मै यही चाहता हू। सो यद्यपि रावण के मन मे भी आया था कि मुझे सीता वापिस दे देना चाहिए श्रीराम को, क्योकि सीता के सतीत्व की वह परीक्षा कर चुका था। परन्तु उस समय रावण के मन मे यह मान कषाय घर कर गई और विचारा कि यदि मै सीता को यो ही दे दू तो दुनिया मुझे कायर कहेगी। फिर मै कैसे बली कहला सकूगा ? मुझे तो युद्ध करना ही योग्य है। तो रावण के मन मे इस बल के मद के कारण ही तो कुबुद्धि पैदा हुई। और इसी के कारण वह दुर्गति का पात्र वना।

यहा इस बल का भी मद करना ठीक नही है। थोडा सा दल बल वैभव आदिक जो यहां पाया है उसका क्या मद करना ? अरे तेरा मद करने का अवसर तो

तब था जबकि तू देव गति मे था। वहां पर मनचाहे भोग साधन प्राप्त थे, सागरों पर्यन्त की लम्बी आयु थी, सैकड़ो मंजिल के भवन तेरे पास थे न जाने कितनी ही देवांगनायें तेरे पास थी, तो तेरे बल का मद करने का अवसर तो तब था। अब क्यो व्यर्थ मे इस थोड़े से धन पर थोड़े से मकान पर अथवा एक स्त्री पर मद करना। अरे इस बल का मद करना तो तेरी महाभूल है। तू तो अपने आत्मीय बल को देख। तेरे मे तो अनन्त बल भरा पड़ा है, उसको पहिचान और उसी को अपना सर्वस्व समझ।

(६) **तप का मद :–** अनशन, उपवास तथा काय क्लेश आदिक तप करने मे बढ़ गये तो लोग अपने अन्दर उसी को लेकर एक अहकार का भाव उत्पन्न कर लेते है, यही है तप का मद। इन बाह्य तपो को करके यदि कोई अहकार करे तो वह तप भी नही कहा गया। वह तप करना तो एक निरर्थक चीज है। मानी जीवकी धार्मिक क्रियाये भी सार्थक नही है। अरे धर्म का अभ्युदय तो वहा ही हो सकता है जहा विनय हो, नम्रता हो, कोमलता हो। तपश्चरण करते हुए मे तो इस प्रकार का भाव रहे कि मेरा तो जो निज चैतन्य स्वरूप है उसकी ही महिमा को पहिचानू, उसी मे रमण करू उसी मे निवास करू यही मेरा वास्तविक तप है। और इसही वास्तविक तपके द्वारा आत्मा की शुद्धि होती है।

(७) **ऋद्धिमद :–** तपश्चरण के द्वारा यदि किसी प्रकार की ऋद्धि सिद्ध हो गयी तो लोगो को उसी का मद हो जाता है, यही है ऋद्धि का मद। अरे बाह्य ऋद्धियो का क्या मद करना ? और प्रथम बात तो यह है कि जो साधना मे लगा है उसे अपनी ऋद्धियो का कुछ पता ही नही पडता। देखा न विष्णुकुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि प्राप्त थी, पर उन्हे उसका पता न था। जब पास के किसी क्षुल्लक ने उन्हे बताया तब उनको पता पडा। तो जो ज्ञानी पुरुष और मुनिजन अपने आपकी आत्मसाधना करते है उनको ऋद्धियो की प्राप्ति हो जाती है पर उन ऋद्धियो मे वे रच भी मद नही करते। वे जानते है कि यह मान कषाय तो एक विकार है। इस मुझ आत्मा का मान करने का स्वभाव नही है किसी भी प्रकार से इस मान कषाय को प्राप्त न होऊँ, यह मान कषाय तो इस मुझ आत्मा की बरबादी ही करनी है।

(८) **शरीर का मद :–** लोग इस शरीर का भी मद करते है। इसको देख देखकर रीझना, इतराना। अरे यह जो मनुष्य शरीर है अथवा जो असमान जातीय

द्रव्य पर्याय रूप है वह वास्तव मे है क्या ? हाड़, मांस, चाम, खून, पीप आदिक महा घिनावनी गंदी चीजो का घर है। इस शरीर को यह मै हूं, ऐसा समझना, यह बात तो धर्म मार्ग मे बढने के लिए बाधक है। अरे यह शरीर तो पौद्गलिक है। प्राणो से बना हुआ है। आत्मा का यह स्वरूप नही है। आत्मा तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक चतुष्टय से सम्पन्न है । अथवा चैतन्य स्वभाव को रखने वाला है। इस अपावन शरीर को निरखकर अहकार का भाव लाना यह तो एक महान अज्ञानता है। इस शरीर के रूप का क्या मद करना यह तो बिघट जाने वाली चीज है। यह तो बिनाशीक चीज है। इसका मद करना योग्य नही।

यह शरीर एक न्यारी चीज है, मै आत्मा न्यारी चीज हू, इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर फिर इस शरीर के मान का परिणाम न होगा। शरीर को ही निरखकर अज्ञानी जीव कहते है कि यह मै वडा चतुर हू। यह चीज तो मुझे ही मिलनी चाहिए ऐसे इस मान कषाय रूप परिणाम मे ही हठ हो जाती है, ऐसी हठ ही इस आत्मा के स्वभाव का घात करनेवाली है। तो यहा की इन वाहरी बातो से चतुराई दिखाने से अपने को चतुर न माने, यह कोई चतुराई नही है। इस आत्मा की वास्तविक चतुराई है आत्मा का अपने स्वरूप मे रहनेसे।

देखिये जो पुरुष विनम्र होता है वही अपने आपकी रक्षा कर पाता है लोकमे देखिये- जैसे आधी पानी के झकझोरो मे पड़कर जो घास नम जाती है वह उस आधी पानी से अपने को वचा लेती है। उसकी रक्षा हो जाती है, पर जो वृक्ष तने हुए खड़े रहते है उनकी डालियॉ टूट कर गिर जाती है। अथवा वृक्ष ही टूटकर गिर जाता है। ठीक इसी प्रकार इस ससार मे मानी पुरुष तो यहा की आने वाली आपदाओ मे अपना विनाश कर लेता है और सरल हृदय वाला मनुष्य, कोमल हृदय वाला मनुष्य, अथवा नमकर चलने वाला मनुष्य उन विपदाओ से अपनी रक्षा कर लेता है।

मान कषाय करने वाले व्यक्ति को देखो तो वह ऐठकर (तनकर) चलता है। ऐसा तना रहता है कि जैस बास। यह भी वताया गया है कि मान कसाय करने वाले को मरकर ऊँट की पर्याय मिलती है, क्योकि यहा उसकी चाल ढाल ऊट की जैसी ही नजर आती है। वह इस लोक मे अपने का वड़ा चतुर, होशियार और बुद्धिमान मानता है। अन्य सभी चीजो को तुच्छ समझता है। जैसे पहाड़ की चोटी पर खड़ा हुआ मनुष्य नीच के मनुष्यो को तुच्छ देखता है। तो क्या नीचे के मनुष्य ऊपर वाले मनुष्य को तुच्छ नही देखते ? अरे अपने आत्मस्वरूप

का यथार्थ परिचय करके झुकना, नमना सीखो । किसके प्रति झुकना ? कहां झुकना ? अपने इस निरुपाधि शुद्ध चैतन्य स्वभाव के प्रति । यही है वास्तव में उत्तम मार्दवधर्म ।

यहां मान करने वाले को भी कोई न कोई मजा चखाने वाला मिल ही जाता है । जैसे एक कथानक है कि कोई एक स्त्री बड़ी हठीली थी । वह अपने पति को छकाने की बात सोचा करती थी । वह पति उस स्त्री से बड़ा प्रेम भी करता था । सो एक दिन पति को छकाने के लिए वह स्त्री अपनी खाट पर पेट दर्द का बहाना करके पड़ गई । पति ने पूछा कहो देवी क्या बात है ?–पेट दर्द है ।–कैसे ठीक होगा ? -अरे अभी कुछ निद्रा सी आयी और स्वप्न में एक देव बोला कि तुम से जो प्रेम करता हो उसकी मां यदि अपना सिर घुटाकर मुंह काला करके सवेरा होते ही दर्शन दे देगी तब तो बच जायेगी नहीं तो मर जायेगी । वह पुरुष सब समझ गया, सो क्या किया कि झट एक पत्र अपनी ससुराल भेज दिया, पत्र मे लिखा कि मा जी तुम्हारी लडकी बहुत अधिक बीमार है, उसके बचने की कोई आशा नही है । हा एक देव ने स्वप्नमें कहा है कि अगर इसकी मां अपना सिर घुटाकर मुंह काला करके सवेरा होते ही दर्शन देगी तब तो यह बचेगी नही तो मर जायेगी । जब सास ने पत्र पाया तो चूकि अपनी बेटी से प्यार था ही, झट अपना सिर घुटाकर मुह काला करके सवेरा होते ही अपनी लड़की के घर पहुंच गई । उस समय वह स्त्री चक्की पीस रही थी । अब उस स्त्री ने देखा तो उसे पहिचान न सकी समझा कि मेरी ही सास है, सो अपने पति से बोली– "देखे बीरबानी के चाले, सिर मुडे और मुह काले" तो वह पुरुष बोला "देखी मर्दो की फेरी, अम्मा तेरी या मेरी" जब उस स्त्री ने देखा कि अरे यह तो मेरी ही मां है तो लज्जित हो गई, तब से फिर छकाने की बात (हठकी बात) छोड़ दिया । हठ करने का नतीजा वह स्त्री पा गयी थी । तो इस प्रकार हठ करने से किसी जीव को शान्ति नही प्राप्त होती । हठ करने वाला तो स्वय परेशान होता है और दूसरों को भी परेशानी मे डाल देता है इसलिए इस हठ के दुराग्रह को छोड़े और अपने अन्दर विनय गुण को स्थान दे । विनय गुण ही मानवता का भूषण है, आत्मा का स्वभाव है मार्दव । विनय के आगम में ५ प्रकार बताये गये है (१) ज्ञान विनय (२) दर्शन विनय (३) चारित्र विनय (४) तप विनय (५) उपचार विनय । ज्ञान विनय वह है कि जो ज्ञानी पुरुष है तथा जो सम्यज्ञान है उनकी विनय करना, उनकी साधना मे रहना, ज्ञान विनय से ही आत्मा को सद्मार्ग मिल सकता है । दर्शन विनय वह है कि जो सम्यग्दृष्टीजन है तथा जो सम्यग्दर्शन । उसका विनय

करना सो दर्शन विनय है। ये दर्शन विनय धर्म की जड़ है, इसलिए दर्शन विनय को ही उपयोग में रखना चाहिए। जो चारित्र में बढ़े हुए है, चारित्र का निर्दोष पालन कर रहे है ऐसे चारित्रधारियो के प्रति विनय करना तथा चारित्र के प्रति विनय भाव रखना, आदर वहुमान का भाव बनाना सो चारित्र विनय है। तप विनय वह है कि १२ प्रकार के जो तप है उनके प्रति विनय रखना तथा तपश्चरण के मार्ग मे आरूढ़ तपस्वियो के प्रति विनय करना, और उपचार विनय है पंचपरमेष्टि का वन्दन, पूजन आदि करना तथा साधर्मी जनों के प्रति यथा योग्य आदर सत्कार का व्यवहार करना यह है उपचार विनय।

किमी से कुछ वोलना है नो अच्छे शव्दोमे विनय पूर्वक बोलना चाहिए। अरे वोलन मे भी कुछ लगना है क्या ? जव वोलना ही है नो कठोर क्यो बोला जाय ? विनयपूर्वक मधुर शव्दो मे वोलने का अभ्यासी वनना चाहिए। जैसे दो शिष्यों से कहा जाये कि अच्छा मस्कृत मे अनुवाद करो– "समक्ष एक वृठ खड़ा है" तो एक शिष्य ने कहा-"शुष्क वृक्ष तिष्ठत्यग्रे" और दूसरे शिष्य ने कहा–"नीरस नरुरिह विलसति पुरुन " तो देखिये-पहिले शिष्य की अपेक्षा दूसरे शिष्य के शव्दो मे मृदुता और मधुरता है। बोलना ही है तो ऐसे मृदुल, सरस, विनययुक्त वचन क्यो न बोले जाये ? अरे कोई अपने मे वडा है तो उससे आदर भरे शव्द बोलना चाहिए। अगर कोई अपने वरावर का है तो उससे भी सम्मान भरे शव्द बोलना चाहिए और अपने से छोटा हो तो उसमे स्नेह भरे, प्रेमयुक्त शव्द वोलना चाहिए। जव तक यह लौकिक विनय नही होगी तव तक परमार्थ विनय भी नही आ सकती। आत्मा की परमार्थ विनय यही है कि आत्मा मे ये जो राग द्वेप मोहादिक भावो की कलुपनाये उत्पन्न हो रही है उन्हे उत्पन्न न होने दें, उन्हे रोके। कोई चाहे कि लोक व्यवहार मे तो हम इतराते रहे और हमारी परमार्थ विनय बन जाय तो यह वात कभी नही हो सकती। परमार्थ साधना करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह विनयशील वने। हर प्रसग मे वह विनययुक्त वर्ते, पर इन सव वातो के लिए यह आवश्यक है कि मूल मे अपने पदार्थो में ही अटके रहने मे, उनमे ही अपना वड़प्पन मानने से इस आत्मा का कुछ भी हित न हो सकेगा। ये वाहरी पदार्थ तो विनाशीक है। इस आत्मा का भला करने वाले नही। तो इन वाहरी पदार्थो की ओर से अपने उपयोग हटाकर अपने आत्मस्वभाव की ओर युक्त करना चाहिए।

जिस व्यक्ति के अदर यह विनय गुण होता है उसे ही धर्म का सही मर्म समझ

में आता है। जैसे जब किसान को जमीन में बीज बोना होता है तो वह क्या करता है ? भूमि को मुलायम बनाता है, इसी प्रकार अपने अन्दर यानि धर्म के अंकुर उत्पन्न करने हैं तो सबसे पहिले अपनी आत्मभूमि में कोमलता लानी होगी, कठोर परिणाम वाले हृदय में धर्म का प्रवेश कदापि नहीं हो सकता। इस परमार्थ साधनों की तो बात जाने दो यहां की लौकिक विद्या भी बिना विनय गुण के लाये किसी को प्राप्त नहीं हो सकती। तभी तो यह देखा जाता है कि जो विद्यार्थी विनयवान होते है वे जल्दी ही विद्याओं में निपुण हो जाते हैं और जो कठोर हृदय वाले विद्यार्थी होते है, ऐंठकर चलते है, अपने को बड़ा बुद्धिमान समझते है, दूसरों को तुच्छ समझते है ऐसे विद्यार्थी कुछ नही सीख पाते है।

यहां हम आप यदि धर्म की साधना करना चाहते है, अपने जन्म मरण के संकटो को मेटना चाहते है, यहाँ के इन घोर संकटों से वचना चाहते है तो इस मान कषाय का मर्दन करना होगा। यहां तो अपनी पूजा प्रतिष्ठा के लिए सिर मुड़ा लिया, धोती दुपट्टा पहिन लिया, त्यागी वनगये, तो इस त्यागीपने से काम न चलेगा। यदि आत्मकल्याण के मार्ग में आगे बढ़ना है तो सबसे पहिले इस मान कषाय का मर्दन करना होगा। यहां केवल सिर का मुंडन करवा लेने से काम नही चलेगा, बल्कि मान का मुडन करना होगा। इस अहंकार से आत्मा का कभी भी किसी प्रकार कल्याण नहीं है। तत्वार्थ सूत्र में भी कहा है "परात्मनिन्दा प्रशंसे सदूसद्‌गुणोच्छादनोद्‌भावने च नीत्तैर्गोत्रस्य" अर्थात् दूसरे की निन्दा अपनी प्रशसा करने की जिसकी वृत्ति है समझना चाहिए कि उसके मान कषाय है। बिना मान कषाय के यें बाते नहीं होती। इससे तो नीच गोत्र का बन्ध होता है। और यदि इससे विपरीत बात है याने अपनी तो निन्दा करे और दूसरे के प्रति आदर का (प्रशंसा का) परिणाम हो तो उससे उच्च गोत्र का बन्ध होता है। मार्दव गुण के प्रकट होने पर यह जीव सबको स्वात्मवत् समझता है। फिर वह समझता है कि संसार में जितना नीच ऊंच भाव है वह मिथ्या भाव है और दुःख का देने वाला है। निष्कारण अभिमान करना आत्म घातक है। ऐसे मान कषाय को धिक्कार है। अरे यहां तो जन्म के साथ मरण, लक्ष्मी के साथ दरिद्रता और यौवन के साथ बुढ़ापा जुड़ा हुआ है, तो फिर अभिमान किसका करे ? बड़े पुरुष सदैव विनयवान होते हैं। वे अपने मुखसे स्वप्रशसा नहीं करते। कहा भी है —

बड़े बड़ाई ना करें, बड़े न बोलें बोल।
हीरा मुख से ना कहे, लाख हमारो मोल॥

जैसे हीरे की कीमत स्वयमेव हो जाती है वैसे ही मनुष्य का ऊंच नीचपन भी उसके आचरण व्यवहार से प्रकट हो जाता है।

तो जहां मिथ्या अभिप्राय है, उल्टी वृत्ति है वहां मार्दव धर्म का अभ्युदय नहीं होता। यह मान कषाय तो है आत्मा का विभाव परिणाम। और मार्दव है आत्मा का स्वाभाविक गुण। हमें यदि आत्मस्वभाव की उपासना करना है तो हमें चाहिए कि इस मार्दव धर्म को हम अपने जीवन में उतारें पहिले अपने आपको देखें। देखो अन्य लोगों ने भी कहा है कि--

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना, तो मुझसे बुरा न कोय॥

तो सबसे पहले अपने आपको देखें कि हमारे अन्दर कितनी कमिया है और कितनी कमिया दूर हो गई है कितने दिनो से हम धर्म साधना करते है, हमारी कषाये कुछ कम पड़ी है या नही। क्रोध मान, माया, लोभ, मोह, ममता उनमें कुछ अन्तर आया है कि नही। यह बात तो रोज रोज देखने की है। हमारा कुछ विकास हो रहा है कि नही हो रहा है इस बात को हमें प्रतिदिन देखना होगा। अगर हमारी प्रगति नही हो रही है तो समझे कि हमारी भलाई नहीं है।

अरे बहुत से साधुजन तो हमारे अन्दर मान कषाय उत्पन्न होने के अवसर न आने पावे इस बात के लिए अटपटे जैसे कार्य करते हुए पाये जाते है। जैसे एक दृष्टान्त है कि किसी नगर के पास कोई गुरू शिष्य आकर ठहर गये। उनका माहात्म्य चारो ओर फैल गया। दर्शको की भीड़ लगने लगी। एक दिन वहां का राजा भी बहुत बड़े समूह के साथ उसके पास आने वाला था। तो गुरू ने समझा कि यह तो एक बडी आफत की चीज बन गई। इसमें तो हमे धर्म साधना में, अपने ज्ञान ध्यान तप मे बाधा हो जायगी अथवा हमारे अन्दर मान कषाय भी उत्पन्न हो जायगी इसीलिये उसने एक उपाय रचा। क्या कि शिष्य से कहा--देखो आज यहां राजा आयगा। जैसे ही वह आये उसके सामने तुम रोटियों की चर्चा छेड देना, हम तुम दोनो रोटियों के विषय मे झगड़ने लगेंगे तो राजा वापिस लौट जायगा और हम तुमको यहां धर्म साधना करने का अच्छा अवसर बना रहेगा।--ठीक है। आखिर वैसा ही किया। अब राजा बहुत बड़े जनसमूह के साथ वहां आया तो गुरू शिष्य दोनों ही रोटियों के विषय में झगड़ने लगे। आज

तो हमने दो ही रोटिया खायी, तुमने चार खायी, हम को क्यो नहीं चार रोटियां दी ? आदि। जब राजा ने देखा कि अरे ये तो रोटियो के लिए झगड़ते हैं, काहे के साधू, तो झट वापिस लौट गया बस गुरू शिष्य दोनो ही शान्तिपूर्वक धर्मसाधना करते रहे। तो इस दृष्टान्त द्वारा यह सिद्ध किया गया कि इस मान कषाय को न पनपने देने के लिए और धर्मसाधना के कार्य मे आगे बढ़ने के लिए ज्ञानी पुरुष अपना कोई न कोई उपाय पहिले से ही बना लेते है। जिन्हे भी आत्म साधना के मार्ग मे आगे बढ़ना है उन्हे चाहिए कि पूर्णरूपेण इस मान कषाय को नष्ट करे और यह जानना चाहिए कि यह मै आत्मा केवल अपने ज्ञानस्वरूप का ही कर्ता हू, उसी ज्ञानभाव को भोक्ता हू ज्ञानसे ही रचा हुआ हू, ज्ञानातिरिक्त अन्य कुछ भी पर पदार्थ और परभावस्वरूप मे नही हू। ज्ञान सर्वस्व ही मेरा वास्तविक वैभव है। यही है वास्तव मे मार्दव धर्म। इस ही ज्ञानस्वभाव की उपासना करके हम आप परमसुखी बने। विचार करते जाईये कि–

दुनिया में देखो सैकड़ो आये चले गये,
सब अपनी करामात दिखाते चले गये।

साथ मे पूजा मे भी पढ़ते है -

मान महा विष रूप करहिं नीच गति जगतमें।
कोमल सुधा अनूप, सुख पावे प्राणी सदा।
उत्तम मार्दव गुण मनमाना, मान करन को कौन ठिकाना।
बसो निगोद माहिं तैं आया, दमरी रूकनभाग बिकाया।
रूकन बिकाया भाग वश तें, देव एकेन्द्रिय भया।
उत्तम मुआ चाण्डाल हुआ, भूप कीड़ों में गया।
जीतव्य जोबन धन गुमान, कहा करै जल बुदबुदा।
करि विनय बहुगुण बड़े जन की, ज्ञान का पावै उदा॥

देखिये—जरा सी मान कषाय का अश भी बाहुबलि स्वामी को कितना बाधक रहा। उन्हे एक वर्ष तक एकासन खड़े रहकर इस अल्प मान कषाय के कारण ही तपश्चरण करना पड़ा। जरा सी ता शल्य थी कि यह भूमि जिस जगह मै खड़ा हुआ हू यह तो भरत की है इसी अल्प शल्य के कारण उन्हे एक वर्ष तक कठिन तपश्चरण करना पड़ा था। और जैसे ही उनकी शल्य खतम हुई तब केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। तो यह मान कषाय कितनी दु:खदायिनी है। बड़े बड़े पुरुष

भी इस मान कषाय के चंगुल मे फंसकर हैरान हुए। भरतचक्रवर्ती जब दिग्विजय करने के बाद वृषभाचल पर्वत पर अपना नाम खोदने के लिए गये तो उन्हें वहां अपना नाम खोदने की जगह ही न मिली। आखिर किसी एक नाम को मिटाकर उस जगह अपना नाम अंकित किया। तो देखिये इस मान कषाय की विचित्रता। इस मान कषाय के वशीभूत होकर यह प्राणी न जाने क्या चेष्टायें कर डालता है।

अरे आत्मन्! यह ससार असार है। यहा पर मान कषाय करना यह तो पर्यायबुद्धि की बात है। मूढता भरी बात है। तात्विक व्यवस्था की प्रतीति करके जो उत्तम मार्दव गुण आत्मा का स्वभाव है उसकी आराधना करो तब यह मार्दव धर्म प्रकट होगा। और भी देखिये–लोक मे जो भी प्रशसा की जाती है वह गुणों की की जाती है। शरीर, धन वैभव आदिक की नही। इस धन वैभव का मान लोग व्यर्थ ही करते है। लोग किसी को पूछते है तो उसके गुणो के कारण। जैसे एक दृष्टान्त मे बताया है कि एक बार राजा भोज रात्रि के समय मे अपने महल मे पलग पर लेटे हुए अपने वैभव का ख्याल करते हुए एक छन्द की रचना कर रहे थे केवल तीन ही चरण बन पाये थे। वे तीन चरण इस प्रकार थे –

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः ।
सद्बान्धवः प्रणतिगर्भगिरश्चभृत्यः ॥
गर्जन्ति दन्तिनिवहा स्तरलास्तुरंगाः ।

अर्थात् मन को हरने वाली सुन्दर आज्ञाकारिणी हमारी रानियाँ है, बन्धुजन अनुकूल है, नौकर भी सेवा भावी है और हाथी घोड़े भी गरजते है। चौथा चरण नही बन पा रहा था। अब एक चोर जो कि राजा भोज के यहां महल में चोरी करने के लिए गया हुआ था वह विद्वान था। चोरी का अवसर न पाकर वह राजा भोज के पलग के नीचे छिपा हुआ था। जब उसने देखा कि राजा भोज से इस छंद का चौथा चरण नहीं बन रहा है तो स्वयं ही चौथा चरण बोल उठा कि–**'सम्मीलने नयनयोर्नहिकिंचिदस्ति'**। अर्थात् राजन् आंख मिचने पर कुछ भी तुम्हारा नहीं है। छन्द पूर्ण हो जाने पर राजा ने उस चोर से सारा हाल पूछा तो चोर ने अपना सारा हाल कह सुनाया। लेकिन राजा भोज उस चोर की विद्वता पर अत्यन्त हर्षित हुए और उसे पुरस्कार देकर सहर्ष विदा किया व स्वयं राजकाज से विरक्त होकर आत्मकल्याण में जुट गये। तो देखो यहां उस चोर के गुणों का

ही आदर किया ना। न कि उस चोर का। तो यहां शरीर, धन, पोजीशन, परिजन आदिक का क्या अहंकार करना ? यह तो पर्याय बुद्धि की बात है। ज्ञानातिरिक्त पर पदार्थ कुछ भी इस आत्मा के नहीं हैं। दृष्टि हो तो अपने गुण विकास की। उत्तम मार्दव धर्म आत्मा का सहजगुण है। उसी पर दृष्टि हो, उस पर उपयोग हो तो आत्मा का यह सहज मार्दव धर्म प्रकट होगा।

जिस प्रकार बिजली के गिरने से पर्वत चूर हो जाता है उसी प्रकार इस मार्दवरूपी शस्त्रसे इस मान कषाय पर आक्रमण करके इसे चूर कर देना चाहिए। अपने आपके चैतन्य की महिमा द्वारा इन तुच्छ ८ प्रकार के मदों को मृदुलता के उपचार से कुचल डालना चाहिए। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो कि परोपकार का कार्य करके भी मान कषाय अपने अन्दर उत्पन्न ही नहीं होने देते। और अधिकांश लोग तो प्रायः इसी प्रकृति के होते है कि कुछ थोड़ा बहुत दान देकर अपना यश चाहते है। और अपनी इस मान कषाय को नाम आदि लिखाकर पुष्ट करना चाहते है। हस्तिनापुर का एक दृष्टान्त ऐसा सुनने को मिला है कि वहां के क्षेत्र का जब दिगम्बर जैन मन्दिर बना तो किसी एक व्यक्ति ने ही उसे बनवाया मन्दिर जब पूर्ण बन चुका और मन्दिर की शिखरपर सिर्फ कलश चढ़ना शेष रहा तो उस व्यक्ति ने पंचायत बुलाकर कहा कि अब हमारे पास पैसा नहीं रहा। सभी लोग चंदा जोड़कर कलश चढ़ा दो। हम कलश चढ़ा सकने में असमर्थ है। तो देखे ना, जिसने सारा मन्दिर बनवा डाला उसके पास क्या कलश चढ़ाने भरको पैसे न होंगे ? होंगे, फिर भी उसे अपनी मान कषाय का शमन करना था, कहीं ऐसा न हो कि मेरे अन्दर ऐसी मान कषाय उत्पन्न हो जाय कि यह हमारा मन्दिर है। मैने इसे बनवाया है। ऐसे इस मान कषाय को अपने में न आने देने के लिए ऐसा किया था। पुराण पुरुष (बुजुर्ग लोग) इस तरह के हुआ करते थे, पर आजकल तो जरा सा कहीं कुछ दान कर दिया तो झट शिला लेखों में अपना नाम अंकित करवा देते है। देखिये कितना यश का लोभ है, कितनी पर्यायबुद्धि है कि यश के लोभ में मान कषाय का समावेश रहता है। तो हमें ऐसे अपने बुजुर्ग लोगो से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि हर सम्भव उपायों द्वारा इस मान कषाय को ध्वस्त करें और इस मार्दव धर्म की उपासना करें तथा अपने आप में बसे हुए इस कोमल सुधामय स्वरुप की दृष्टि रखकर अपना कल्याण करे।

(ॐ ह्रीं श्री मार्दव धर्माङ्गाय नमः)

उत्तम आर्जव

दस धर्म के दस दिनों की पाठशाला में आज तीसरा दिन है। इस दिन आर्जव धर्म का पाठ पढ़ाना है। आर्जव नाम है कोमलता के परिणाम का। 'ऋजोर्भावः आर्जवं', चित की सरलता को आर्जव कहते हैं। चित्त सरल हो कुटिलता रहित हो, माया कषाय रूप वृत्ति न हो ऐसे परिणाम का नाम है आर्जव धर्म। मूल में बात यह समझिये कि जब तक अभिप्राय में स्वच्छता न होगी तब तक आर्जव की प्रकटता नहीं हो सकती। अभिप्राय स्वच्छता होने का नाम ही आर्जव धर्म है और अभिप्राय की स्वच्छता पूर्वक ही कर्मबन्धन से छुटकारा मिल सकता है। चाहे हम मुनि बन जायें, नानातरह के तपश्चरण भी करनें लगें अथवा अनेक शास्त्रों के पारगामी भी हो जायें, पर जब तक अभिप्राय की स्वच्छता न होगी तब तक कर्मबन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता।

यह आर्जव धर्म यही शिक्षा देने के लिए तो आया है कि हे आत्मन्, अपने हृदय को सरल बनाओ। स्वच्छ बनाओ यही आन्तरिक स्वच्छता तेरे कर्मबन्धन को काट देगी। परमार्थ ढंग से इस आर्जव धर्म का विचार किया जाय तो आत्मा का स्वभाव ही सरलता है। मायाचार न करना, किसी को धोखा देने रूप परिणाम न करना, किसी के साथ विश्वासघात न करना यही तो आर्जवधर्म प्रेरणा दे रहा है। यह आत्मप्रभु तो स्वभाव से ही सरल है, पर उपाधिवश यह जीव अज्ञान के वश होकर परपदार्थों को अपना मान तो ले, फिर उनको अपने मन के अनुकूल चाहता है परिणमावना और मनके अनुकूल परिणति उन परपदार्थों में होती नहीं तो इसका दुःखी होना स्वाभाविक बात है। और उन परपदार्थों की परिणति किसी दूसरे के मन माफिक हो भी क्यों। अरे जो अत्यंत भिन्न पर पदार्थ है उनमें परिणति तो उनके अनुरूप होगी। लोग चाहते हैं उनपर पदार्थों से सुख, इसीलिए तो उनके संचय के लिए अनेक प्रकार के मायाचारी के परिणाम किये जा रहे हैं। जिस ज्ञानी पुरुष को अपने ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा की प्रतीति हो गई है वह इन बाह्य पर पदार्थों के पीछे मायाचारी के परिणाम करेगा ही क्यों ? आज जो मायाचारी के परिणाम

लोगों के अन्दर बहुत बड़े रूप मे दिख रहे है उसका मूल कारण है अपने आत्मस्वरूप का यथार्थ परिचय न होना। यदि आर्जव धर्म की प्रकटता करना है तो अपने निजस्वरूप को यथार्थ ढग से जानकर अपने आपके सरल स्वभावी ज्ञानानन्दप्रभु की शरण लेकर और इन वक्रता भरे मायाचार भरे विभाव भावो से पृथक होकर इस आत्मस्वभाव मे रत हो। इस आत्मस्वभाव मे रत होना यही है उत्तम आर्जव धर्म।

इस आर्जव धर्म के धारण करने से ही इस जीव का कल्याण हो सकता है मायाचार भरे छल कपट बेइमानी आदि से भरे हुए हृदय मे धर्म का प्रवेश नही हा सकता जैमे वक्र छिद्र वाले माला के दाने मे तागे का प्रवेश नही हो सकता इगी प्रकार वक्र हृदय वाले पुरुष मे धर्म का प्रवेश नही हो सकना। इस ससार अवस्था मे वक्र विभावो मे रहना, उनमे रहकर अपना जीवन बिताना कितनी अज्ञानता की बात है। जिसे सिद्धालय मे जाना है उसे तो सरल बनना ही होगा जिस प्रकार वक्र छेद वाले माला के गुरिये मे यदि तागा पिरोना है नो छिद्र को सीधा करना ही होगा तभी तागा उसमे पिरोया जा सकेगा, इसी प्रकार सिद्धालय मे जिसे प्रवेश करना है उसे अपने हृदय को पवित्र (मरल) बनाना ही होगा। ऐसा किये बिना सिद्धालय मे प्रवेश होना असम्भव है। अथवा जैसे सर्प का स्वभाव टेढ़ा चलने का है, मरन्तु जब वह विल मे जाता है तो सीधा हो जाता है इसी प्रकार इस ससार मे हम भले ही मायाचार करके तिरछे चलते है, किन्तु यदि हमे सिद्धालय मे पहुचना है तो हमे सरल बनना ही पडेगा तथा जिस प्रकार एक सीधी म्यान मे टेढ़ी तलवार समा नहीं सकती, इसी प्रकार वक्र हृदय वाले व्यक्ति मे आर्जव धर्म समा नहीं सकता। तो अपने आपको सरल बनाओ। जो बात मन मे हो वही बचन मे हो, वही काय मे हो, इस ही वृत्ति मे रहकर उद्धार का मार्ग मिल सकता है। यदि कोई चाहे कि हम मन से तो और कुछ सोचे, वचन से कुछ और ही बोले और काय से अन्य प्रकार ही चेष्टाये करे तो ऐसे मायाचारी के परिणाम मे रहने वाले व्यक्ति का उस स्थिति मे कभी भी कल्याण हो नहीं सकता।

अपना कल्याण चाहिए हो तब तो अपने हृदय मे मरलता लानी ही होगी। अपने चित्त को विशुद्ध बनाना ही होगा ओर अपने आपकी निर्मल परिणति मे आना ही होगा नब कहीं मंसार के इस विकट कर्म बन्धन से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। कैसा हो हमारा मन निर्मल सो पढ़ते है ना पूजा मे —''मुनिमनसम उज्ज्वल नीर प्रासुक गंध भरा'', अर्थात् अपना मन उज्ज्वल रहे, कैसा

उज्ज्वल—जैसा कि मुनिजनों का रहा करता है। संत वही कहलाता है जिसके चित्त में निर्मलता बनी हुई है। और जिसके चित्त में पक्षपात है, रागद्वेष है, नाना प्रकारे के प्रपंच घर किये हुए हैं क्या ये संतपने के लक्षण हैं ? संत पुरूषों का मन बहुत ही सरल प्रकृति का होता है। उनके मन में किसी प्रकार की विकार की वासना नहीं होती है तो जैसा मुनिजनों का स्वच्छ सरल मन होता है वैसा मन हम आपको भी बनाना चाहिए।

देखिये—बच्चों का भी हृदय बड़ा स्वच्छ हुआ करता है। उनके मन में कोई छलकपट मायाचारी की बात नहीं हुआ करती है। तभी तो अगर कोई उन्हें सिखा दे कि देखो बेटा हम रहेगे तो घर के अन्दर, पर तुमसे द्वार पर अगर कोई आकर हमारे विषय मे पूछे तो कह देना कि बाहर गये है। अब क्या होता है कि जब कोई व्यक्ति उस बच्चे से पूछता है कि कहो बेटा तुम्हारे बाबूजी कहां गये ? तो वह तो यही कह देता है कि बाबूजी है तो घर के अन्दर, पर उन्होंने हमसे यह कह दिया है कि जो कोई हमे पूछे उससे कह देना कि यहां नहीं हैं, कहीं बाहर गये है। तो देखिये बच्चे कितने निश्छल प्रकृति के होते हैं। मायाचारी की बातें तो लोग (मा बाप वगैरह) ही सिखा देते है। तो उन बालको की तरह का अपना चित्त निश्छल बनाये तभी हमारे अन्दर इस धर्म का प्रवेश हो सकता है। तो अपने आपको आज के इस आर्जव धर्मके दिन से यह प्रेरणा लेना है कि हमारे समस्त प्रकार के बक्र विभाव मिट जायें और हमारे अन्दर विराजमान जो भगवान आत्मा है वह अपने आपको सरल स्वभाव में बैठकर शान्ति सुधा का पान करे।

भावो की निर्मलता और भावों की बक्रता यह तो एक बेतार के तार की तरह है। जैसे बेतार के तार मे कहीं कोई तार वगैरह का सम्बन्ध तो नहीं दिखता पर क्रिया प्रतिक्रिया तो देखी जाती है, इसी प्रकार इन भावों की भी बात है। जैसा यहां परिणाम होगा वैसा ही वहां दूसरे पर प्रभाव होगा जैसा हमारे प्रति दूसरे का भाव होगा वैसी ही हमारी उसके प्रति भावना होगी। यदि हमारे प्रति किसी के चित्त में मलिनता है तो हमारे चित्त में भी उसके प्रति मलिनता आ जायगी, और यदि हमारे प्रति किसी का आदर भाव है तो हमारे अन्दर भी उसके प्रति आदर भाव बनेगा। ऐसी बात है इन भावों की। जैसे एक दृष्टान्त है कि कोई एक चन्दन की लकड़ी का व्यापारी था। किसी समय चन्दन का भाव गिर गया और उसके पास चन्दन की लकड़ी का बहुत बड़ा स्टाक था, सो वह बड़ा चिन्तित था अब

वह इसी चिन्तन में निमग्न था तो वहां का राजा हाथी पर बैठा हुआ जाता हुआ देखा। अब उस व्यापारी के चित्त में एकदम से यह बात आ गयी कि यदि यह राजा मर जाय तो चन्दन का भाव ठीक स्थिति मे आ जायगा, और हम को टोटा न उठाना पड़ेगा। जब राजा उसके सामने से निकला तो उस दिन उस व्यापारी के प्रति राजा को क्रोध का शत्रुता का भाव जग गया जब कि यह उसका परम मित्र था। राजा समझ गया कि इस व्यापारी को आज हमारे प्रति कोई बात चित्त में आयी है। सो राजा अपने दरबार मे जब पहुंचा तो अपने मत्री को बुलाया और कहा देखो मत्री यहा जो अमुक व्यापारी हमारा मित्र है उसके पास जाकर गुप्त रीति से उसके मन में हमारे प्रति क्या विचार है सो मालूम करो, क्योंकि उस व्यापारी के पास से जब कभी मै निकला करता था तो मेरे मन मे उसके प्रति कोई क्रोधका भाव नहीं जगता था, पर दो तीन दिन से मुझे उसे देखकर क्रोध हो जाता है तो उस चतुर मत्री ने उस व्यापारी के पास पहुंचकर और उसको अभयदान का आश्वासन देकर कहाकि तुम किसी तरह की चिन्ता न करना, तुम्हे कुछ न होने पायगा, तुम यह बताओ कि तुम्हारे मन मे राजा के प्रति क्या विचार चल रहा है ? तो उस व्यापारी ने सारी बात मंत्री से कह सुनायी। देखो मेरे यहा चदन की लकड़ी का बड़ा स्टाक लगा है, चदन का भाव आजकल काफी गिर गया है, तो इस राजा को देखकर हमारे मनमे आ गया था कि अगर यह राजा मर जाय तो चन्दन की लकड़ी का भाव बढ़ जायगा और हमको टोटा न सहना पड़ेगा। अब वह मत्री राजा के पास गया और सारी बात कह सुनाई। राजा ने मत्री से फिर कहा—अच्छा जाओ और बहुत ऊंचे रेट पर उस व्यापारी का सारा चन्दन खरीद लाओ। मत्री ने वैसा ही किया फिर एक दो दिन बाद वह राजा वहीं से निकला तो उस व्यापारी के प्रति पूर्ववत् राजा को कोई क्रोध नहीं जगा। तो क्या बात इस दृष्टान्त द्वारा देखने को मिली कि ये भाव बेतार के तार की तरह है। कुछ बात न मालूम हो पावे फिर भी भावो से पहिचान हो जाती है। इतनी अधिक इन भावो की बात है। तभी तो कहा तो ये जड़ पुद्गल कार्माण वर्गणाये और कहा ये जीवके रागद्वेषरूप विभाव। उन अशुद्ध चैतन्यभावोंका निमित्त पाकर ये कार्माण वर्गणायें भी जीव के साथ चिपक जाती है। तो देखो यह भाव की ही तो बात है। कहा तो यह जीव अपने आपके सरलस्वभाव मे रहकर सिद्धालय मे पहुंच जाता है और कहां वक्र विभावो मे रहकर यह चारों वक्र गतियों में घूमकर दुःख उठाया करता है। इस आर्जव-धर्म का पालन करें

तो यह लोक भी सुधरे और परलोक भी । छलकपट मायाचार आदि करने से लाभ क्या ?

आज कल तो ऐसा समय आ गया कि बाजार में कोई भी चीज (घी, तेल मसाले आदि) शुद्ध नहीं मिलते हैं । सभी चीजों में मिलावट चलती है । तो यह बात क्यों बन रही है ? इसी मायाचार के परिणाम से । आज तो जिधर देखो उधर ही मायाचार, अनैतिकता, छलकपट आदि के दुष्परिणाम देखने को मिल रहे हैं । हां कभी था अपना भारत देश उत्तमवृत्ति का । आज भी यदि ये अनैतिकता के परिणाम लोग छोड़ दें तो क्या अपना यह भारत देश आज भी कुछ दिन पूर्व की जैसी स्थिति वाला नहीं हो सकता है । आज तो जिसे देखो वही इस अनैतिकता (मायाचार, छलकपट, बेईमानी आदि) से आर्थिक लाभ उठाना चाहता है दर्जी लोग कपड़ा चुराते हैं, सुनार लोग स्वर्ण मे खोटी चीजें मिलाते हैं, व्यापारी लोग सैम्पुल तो और कुछ दिखाते हैं । और माल और कुछ भेजते है, इन्जीनियर लोग सीमेंन्ट की जगह रेत से ही चिनाई करवाकर उसे पास करा देते हैं । यों कहां तक कहें, जिधर देखो उधर ही मायाचारी के बर्ताव देखने को मिल रहे हैं । यदि हम आप सभी के अन्दर से यह अनैतिकता का व्यवहार खतम हो जाय तो आज भी यह जीवन शान्त सुखी नजर आये । अरे इन मायाचार से भरे जीवन में जीकर क्या लाभ लूट लिया जायगा ?

इस मायाचारी का जीवन बिताने वाले को तो तत्वार्थ सूत्र में बताया है कि मायाचार से तिर्यन्चगति प्राप्त होती है । 'मायातैर्यग्योनस्य' अर्थात् मायाचारी करने से त्रिर्यन्चआयु का आस्रव होता है । अरे जरा विचार तो करो कि इस थोड़े से जीवन में मायाचारी से भरे जीवन को बिताने से क्या फायदा ? अरे यहां से मरकर तिर्यन्च हो गये तो क्या लाभ पा लिया जायगा ? एक पौराणिक कथानक है कि एक मुनिराज एक गांव में चार मास का उपवास करके विहार कर गये, उसी समय दूसरे मुनिराज उस गांवमें आये, लोगों ने कहा कि ये कितने बड़े तपस्वी हैं जो चार माह का उपवास किया । मुनि ने इस बात से इन्कार नहीं किया और मौन से यह बात सुनते रहे, इसका फल उनको अनन्त कपटका लगा । फल यह हुआ कि त्रिलोक मण्डन हाथी की पर्याय में मरण करके गया । वहां वहीं बधबन्धन, छेदनभेदन आदिक का पात्र बनना पड़ेगा । जो इस जीवन में अपने को मायाचारी से रखता है । इस मायाचारी के परिणाम को तो मूल से खतम करना है । कपट

से कमाई हुई इज्जत, प्रतिष्ठा धन ये कुछ भी साथ नहीं देंगे । आत्मा को देखो यह अकेला ही जायगा, निरन्तर राग द्वेष आदि कुटिल भावों से रहित सरल ज्ञानमय स्वभाव के दर्शन करते रहो । अपने सरल स्वभावी प्रभु का मायाचार करके तिरस्कार किया तो इसका फल अच्छा नहीं होगा । आर्जव धर्म को धारण करो, इसी में कल्याण है, आनन्दमय स्थिति की इसमें प्राप्ति है । देखिये—हम आपने अपने विद्यार्थी जीवन में भी नाना प्रकार के मायाचार किये । कोई विद्यार्थी मेरे से परीक्षा में अधिक अंक न प्राप्त कर सके इसके लिए कितने ही प्रयास किये परीक्षा के समय में दूसरे विद्यार्थी को गप्पों में लगा दिया या और अन्य अन्य उपायों से ऐसी चेष्टा की कि परीक्षा में हमारे से ज्यादा नम्बर किसी के बढ़ने न पावें । तो वहां भी अपने मलिन परिणाम बनाये, मायाचारी के व्यवहार किये तथा लौकिक जीवन में दैनिक चर्या में होने वाला मायाचार आप सब भली प्रकार जानते ही हैं ।

अब धार्मिक क्षेत्र की माया की बात देखिये—बहुत से लोग भगवान के पास पहुंच कर बहुत राग रागनी से गान तान करके झांझ मंजीरा आदि बजाकर भगवान की भक्ति करते हैं, अन्दर से अगर कोई ऐसा भाव रखे हुए है कि ये लोग समझ जायें कि यह तो बड़े धर्मात्मा हैं, अन्दर से धार्मिकता के परिणाम तो न हों, केवल बाहरी दिखावा मात्र हो तो वह तो एक मायाचार की ही बात है । अथवा किसी ने कोई मन्दिर का निर्माण करा दिया, बेदी प्रतिष्ठा करा दिया, किस लिए कर गया कि मुझे वैभव की प्राप्ति हो, भोग साधन मिलें तो देखिये वहां पर भी मात्र धार्मिकता का दिखावा है, अतः उसमें भी मायाचार का परिणाम गर्भित है । अथवा बहुत से साधु जो कि किसी आचार्य के पास रहते हैं तो उन्हें जब किसी दोष के होने पर प्रायश्चित लेना होता है तो क्या उपाय करते हैं कि आचार्य से सीधी जो बात है सो तो नहीं कहते बल्कि इस तरह से कहते है कि जिससे मायाचारी का भाव व्यक्त होता है । जैसे हे गुरुदेव बताइये अगर किसी से ऐसा दोष हो जावे तो उसके प्रायश्चित का क्या विधान है ? सो देखिये करना तो चाहिए था खुद के दोष का प्रायश्चित, पर इस तरह से न करके किसी दूसरे उपाय से कोई हल्का प्रायश्चित कर लेंगे तो इसमें तो मायाचारी के परिणाम का समावेश है और कोई साधु तो आचार्य के कल्याणकारी प्रायश्चित से डरकर अपनी दुर्बलता बताते हुए इस तरह से भी कहने लगते है कि महाराज खाना नहीं पचता है, कई दिन तक ज्वर रह चुका है, हम तो बहुत कमजोर हैं आदि नाना प्रकार की बातें बनाकर अपना दोष गुरु के सामने प्रकट—करना है ताकि ऐसा प्रायश्चित दें जो कम हो

या प्रायश्चित मिले ही नहीं। तो देखिये—यहाँ भी परिणामों में मायाचारी का परिणाम देखने को मिलता है। इसी प्रकार बहुत से लोग तो नमक की त्यागी इसलिए कर लेते कि बदले में हलुआ मेवा आदि अच्छी चीजें मिलेंगी। अथवा किसी एक रस को इसलिए छोड़ दिया कि बदले में और स्वादिष्ट चीजें मिलेंगी तो ये सब मायाचारी के परिणाम है। अब इन मायाचारी के समस्त परिणामों को छोड़े, उत्तम आर्जव धर्म को अंगीकार करें, अपने आपके अन्दर परिणामों में सरलता लायें तो अपने को कल्याण का मार्ग मिलेगा।

कोई यह सोचे कि हम जो मायाचार छलकपट आदि के परिणाम छिपकर करते है ये कोई देखता थोड़े ही है, वह प्रगट थोड़े ही होने पायेगा, पर ऐसी बात नहीं है। कुछ समय बाद वह मायाचार प्रकट हो ही जाता है। जैसे एक कथानक है कि कोई राजा अपने बगीचे मे घूमने के लिए गया हुआ था। उसे एक जगह किसी पेड़ के नीचे पड़ा हुआ सेवफल दीखा। वह सेवफल बड़ा सुन्दर था, पका था, उसपर राजा को लालच आ गया। पर वह पड़ा था गोबर पर, सो राजा ने उसे उठाकर गोबर साफ किया और खा गया। वह देखने लगा कि कोई हमें देखता तो नही है। सो देख तो कोई न रहा था। उसने सोचा कि यह काम मैंने छिपकर किया है, प्रकट थोड़े ही हो पायगा, पर देखिये—समय पाकर किस तरह से यह मायाचार प्रकट होता है। एक दिन उस राजदरबार में कोई नर्तकी अपना नृत्य कर रही थी। उसने बहुत से गीत गाये, पर राजा ने उसे कुछ इनाम न दिया। बाद में एक गीत उसने इस प्रकार का गाया—'कह दे हौ ललनकी बतियां', सो इस गीत को सुनकर राजा ने यह अर्थ लगाया कि शायद इसने मुझे गोबर से सेव उठाकर उसे पोछकर खाते हुए देख लिया होगा सो उसे यह नर्तकी कह देगी, ऐसा यह कह रही है। सो अपना मायाचार छिपाने के लिए राजा ने नर्तकी को एक आभूषण उतार कर दे दिया। आशय राजाका यही था कि अच्छा किसी से कहना नहीं, इस बात के लिए हम तुम्हें यह आभूषण इनाम में दे रहे है। पर नर्तकी ने इस गीत —'कह दे हौं ललन की बतियां', पर जब एक आभूषण पाया तो पुनः वही गीत गाये। यों राजा ने अपने सारे आभूषण उतार कर दे दिये। जब उस नर्तकी का वह गाना बन्द न हुआ तो राजा को गुस्सा आ गया और बोल उठा—अच्छा कह देना जो कहना हो, यही तो कहेगी की राजा ने बगीचे में गोबर पर पड़े हुए सेवफल को उठाकर लालचवश उसको पोंछकर खा लिया था। तो लो राजा की सारी मायाचारी स्वयं ही खुल गई। तो कोई कितना ही छिपाये, पर मायाचार कभी न कभी प्रकट हो ही जाता है।

और भी देखिये--आगम में तीन प्रकार की शल्य बतायी गई हैं (१) माया, (२) मिथ्या (३) निदान । शल्य इस जीव को कांटे की तरह चुभती रहती है । मायाचारी का शल्य रखने वाला पुरुष तो सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक किसी भी क्षेत्र में कहीं भी शान्ति से स्थिर नहीं हो पाता । यह शल्य कांटे की तरह चुभा करती है ऐसा इस माया शल्य को हमें छोड़ना चाहिए । देखो अपन लोग पूजन में पढ़ते है ना कि :-

यह पुष्य सुकोमल कितना है, तनमें माया कुछ शेष नहीं ।
निज अन्तर का प्रभु भेद कहुं, उसमें ऋजुता का लेश नहीं ।।
चिन्तन कुछ फिर सम्भाषण कुछ किरिया कुछ की कुछ होती है ।
स्थिरता निजमें पाऊं जो, अन्तर का कालुष धोती है ।।

तो अपने अन्दर उठने वाले इन कलुषता के परिणामों को हमें छोड़ना चाहिए और अपने मन, वचन, काय को सरल स्वच्छ पवित्र बनाना चाहिए । जो बात मनमें हो, वही वचन में हो, उसी के अनुसार सारी चेष्टायें हों । नीति में अपन लोग ऐसा पढ़ते भी हैं .-

मनस्येकं वचस्येकं वपुस्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् वपुस्यन्यत् दुरात्मनाम् ।।

अर्थात् मन, वचन, काय तीनों की एक रूपता महात्मा का लक्षण है, पर मन में कुछ और, वचन मे कुछ और, काय में कुछ और, यह दुरात्मा व्यक्तियों का काम है । याने इतनी सी ही तो बात है कि जो बात मन में वही वचन और काय में हो, इसी प्रक्रिया से अपने को कल्याण का पंथ मिलेगा ।

अब एक बात और यह सोचना है कि जिन स्त्री पुत्रादिकों के पीछे धन वैभव इज्जत प्रतिष्ठा आदिक के पीछे इतने मायाचारी के परिणाम किये जा रहे हैं उनसे इस जीव को लाभ क्या मिलेगा ? अरे ये तो कष्ट के ही कारण होंगे । वस्तुतः मायाचार करके हम अपने आपको ही ठगते हैं । तो हमें चाहिए कि हम अपने आपका घात न करें, अपने आपकी रक्षा करें, अपनी रक्षा इसी में है कि हृदय में उठने वाली छलकपट मायाचार आदिक बातों को सदा के लिए तिलांजलि दे दें ।

कैसे बहुरूपिया बने फिरते हैं कि नाम तो धराये हैं त्यागी का, वृती का, साधु का और चारित्र है भृष्ट, तो ऐसे मायाचार से क्या लाभ होगा ? अरे जब चारित्र

ही बिगड़ा हुआ है तो पंडिताई, त्यागीपना, साधुपना कहाँ टिक सकता है ? अतः मायाचार के परिणामों को त्यागें, अपने हृदय में पवित्रता के परिणाम लायें, सरलता के परिणाम लायें तभी इस जीवन में शान्ति की उपलब्धि हो सकेगी। एक दृष्टान्त है कि एक बार श्रीराम और लक्ष्मण किसी सरोवर के तटपर पहुंचे वहां उन्होंने देखा कि एक बगुला पक्षी तालाब में एक पैर से बड़ी शान्ति से खड़ा था। जैसे वह स्तब्ध ध्यान कर रहा हो। सो रामचन्द्रजी बगुला की तारीफ करते हुए लक्ष्मण से बोले कि :– 'पश्य लक्ष्मण पम्पायां बकः परम धार्मिकः' अर्थात् हे बन्धु देखो एक पैर उठाये हुए कैसा शान्तमुद्रा(ध्यानकी मुद्रा) में खड़ा है। यों श्रीराम ने इस बगले की प्रशंसा लक्ष्मण से की। फिर क्या देखा कि वह बगुला बड़े इशारे से धीरे से अपना कदम पानी में रखता है तो श्रीराम बोले "शनैः शनैः पदं धत्ते, जीवानां बध शंकया" अर्थात् हे बन्धु यह बगुला पक्षी तो कैसा सम्हाल कर धीरे से अपने कदम रखता है, कही किसी जीव को मेरे द्वारा कष्ट न पहुंच जाय, ऐसा विचार कर वह बहुत धीरे धीरे कदम बढ़ाता है। यह तो बड़ा धार्मिक मालूम होता है। इतने में ही एक मछली उछलकर पानी से बाहर गिरी तो मानो वह कहती है कि–

बकः किं स्तूयसे राम, येनाहं निष्कुलीकृता।
सहवासी हि जानाति, सहवासि–विचेष्टितम्॥

अर्थात् हे श्रीराम तुम व्यर्थ ही इस पापी बगुले की प्रशंसा कर रहे हो। अरे इसने ही तो मेरे वंश का नाश किया है। श्रीराम तुम इसकी बात नहीं जानते, चोर ही चोर की बात को जानता है। सहवासी की चेष्टा सहवासी ही जानता है। इसके मायाचार कृत्य से मेरा कुल नष्ट हो गया है और हो रहा है। सो आप सब लोग इस बात को यहां देखलो। गृहस्थ गृहस्थों में देखें, त्यागी त्यागियों में देखें, लोग न जाने किस तरह के मायाचार अपने हृदयगृह में बिठाये हुए हैं। अगर 'मुख में राम बगल में छुरी' का जैसा परिणाम किया जा रहा है तो समझो कि उसमें अपने आपका ही पतन किया जा रहा है।

बड़े वर्णीजी(श्री गणेशप्रसादजी) ने अपनी जीवन गाथा में एक घटना अपने जीवन की ऐसी लिखी है जो कि हम आपके लिए बड़ी शिक्षाप्रद है। यों तो उन्होंने अपने जीवन की कई घटनायें लिखीं, पर उनको यहां नहीं कहना है। प्रकरणवश

उनमें से एक घटना को कहा जा रहा है। वर्णीजी जब मथुरा में पढ़ते थे तब की यह घटना है। उन्होने स्वय लिखा है कि एक बार हमे मथुरा विद्यालय में रहते हुए में ऐसा ध्यान बना कि यहा रहते हुए काफी दिन बीत गये, अपनी मां चिरौंजाबाईजी के पास कुछ दिनो घर जाना चाहिए। उस समय विद्यालय के संरक्षक पं० श्री गोपालदासजी बरैया थे। तो घर जाने के लिए क्या उपाय रचा कि मां जी की ओर से एक पत्र स्वय लिखकर वही के लेटरबाक्स मे छोड़कर पत्र पालें और उसमे यह लिख दे कि बेटे हमारी तबियत काफी खराब है, तुम जल्दी चले आओ। तो यही उपाय ठीक जँचा। स्वय ही मां की तरफ से पत्र लिखा और मथुरा के ही किसी लेटरबाक्स मे उसे डालकर पत्र पा लिया। बस उस पत्र के साथ अपना प्रार्थनापत्र श्री गोपालदासजी बरैया के पास भेज दिया जब श्री गोपालदासजी ने पत्र को देखा तो सारा हाल समझ गये और पडितजी से कह दिया कि देखो गणेशप्रसाद से कह देना कि जब घर से लौटे तो हमसे (गोपालदास बरैया से) मिलकर जावे सो जब वर्णीजी १५ दिन की छुट्टी के बाद लौटकर आये तो पडितजी के लिखे अनुसार उनसे मिलने के लिए गये। उन्होने पूछा कि कहो बाईजी की तबियत ठीक हो गई ? तो उन्होने कहा–हा ठीक हो गई। उन्होने भोजन कराया और जब मथुरा को जाने लगे तब बोले यह श्लोक याद कर लो––

उपाध्याये नटे धूर्ते, कुट्टिन्यां च तथैव च।
माया तत्र न कर्तव्या, माया तैरेव निर्मिता ॥

अर्थात् उपाध्याय, गुरू आदि के साथ कभी मायाचार नही करना चाहिए। तो स्वय ही गणेशप्रसाद ने बिना ही कुछ बताये समझ लिया कि हमारी मायाचारी का पता इनको भलीभाति हो गया है तो कहा है ना कि.–

कपट छिपाये ना छिपे, छिपे न मोटा भाग।
दाबी दूबी ना रहे, रुई लपेटी आग ॥

अत स्वय ही बोल पड़े कि हा मेरा स्वय का मन घर जाने का हो गया था इसलिए मैने ही जाली चिट्ठी मा की ओर से लिखी थी और यही के लेटरबक्स मे गेरी थी। तो प० गोपालदास जी ने उनकी(गणेशप्रसाद की) सरलता पर प्रसन्न होकर कहा-कि मै इसकी सरलता पर अत्यन्त प्रसन्न हू और मेरी ओर से इसे तीन रुपया मासिक छात्रवृत्ति और बढ़ा दी जाय।

तो देखिये-सरलता का परिणाम कितना मधुर होता है। ऐसा ही निश्चय करके हे आत्मन्, अपने इस आर्जव धर्म को धारण करो। हम आपका कर्तव्य है कि बड़े वर्णीजी के जीवन की घटनाओंका पठन पाठन करके विचार करके, उनके ही जैसे पवित्र जीवन को बितायें, अपने अन्दर उठने वाले मायाचार आदिक के अपवित्र परिणामों को अपने हृदय से निकाले और भी बहुत से ऐसे सरल परिणामी लोग होते हैं जो कि यहां के इन बाहरी समागमो से मुग्ध न होकर अपने आपकी रक्षा कर लेते हैं। एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है जिस समय दिल्ली में गदर हो गया तो वहा के धनिकों लुटेरों ने जबरदस्ती धन लूटना शुरू कर दिया। तो बताते हैं कि एक कोई सेठ जौहरी ने जब देखा कि ये लुटेरे हमारे घर पर भी धन लूटने आयेंगे सो क्या किया कि पहले से ही सारा निकालकर आंगन मे डाल दिया, इसलिए कि उन्हे व्यर्थ मे खुद को भी दूसरो को भी हैरान क्यो होना पड़े। सो जब लुटेरे आये और सारा धन आगन मे पड़ा देखा तो आश्चर्य मे पड़ गये। उनके पूछने पर उस सेठ ने बता दिया कि आप लोगो को हैरान न होना पड़े। वे लुटेरे उस सेठ की सरलता पर बहुत प्रसन्न हुए और उस धन के लूटने की बात तो दूर जाने दो, वे स्वयं दो तीन लुटेरो को उस धन को रक्षित रखने के लिए छोड़ गये। तो देखिये यह था सरलता का परिणाम।

और, भी एक दृष्टान्त लीजिये --प० बनारसी दास जी के घर पर एक बार ऐसी घटना घटी कि रात्रि मे एक चोर घर मे घुस आया और धन की बड़ी पोटली बाधकर उठाने को तैयार हो गया लेकिन वह उससे उठ नहीं पा रही थी, तो यह सब प० बनारसी दास जी देख रहे थे। तो जब पोटली न उठी तो पं० जी ने स्वय उसे उठा दिया और उसके घर तक पहुंचा दी, जब वह चोर अपने घर में पोटली ले गया तो उसकी मां ने कहा कि आज इतनी बड़ी गठरी में क्या माल लाये ? तो उस चोर व्यक्ति ने कहा कि आज की बात कुछ मत पूछो, आज तो ऐसे घर पहुच गये कि जिस घर के मालिक ने हमें चोरी करते हुए भी देखा, उसी ने खुद यह पोटली उठवायी और यहां तक पहुंचा भी दी। तो उसकी मां झट समझ गयी और बोली--अरे यह तो बनारसी दास होगा। फौरन उसे वापिस दे आओ। उस चोर ने सारा धन वापिस दे दिया। तो देखिये इस सरलता का कितना अचिन्त्य प्रभाव होता है।

तो इससे हम आप भी ऐसी प्रेरणा लें कि अपने अन्दर इस सरलता रूप आर्जव धर्म को धारण करें। यह तो आत्मा का एक स्वभाविक गुण है। सो इस समस्त

प्रकार के विकार भावों को छोड़कर अपने आपके शान्त स्वभाव में आ जायें जो लोग मायाचार के द्वारा धन कमाते हैं उनका धन दान पुण्य धर्म आदिक के कार्यों में नहीं लग पाता है। पाप परिणामों के द्वारा कमाया हुआ धन पाप कार्यों में ही खर्च होता है। न्याय नीति से, ईमानदारी से कमाया हुआ धन ही दान पुन्य, धर्म आदिक के अच्छे कार्यों में लग पाता है। इसका एक दृष्टान्त है कि कोई एक वेश्या को पाप कार्यों में प्रवृत्त होते-होते जब सारा जीवन बीत गया, तो अन्त में उसे पाप कार्यों से कुछ ग्लानि हुई तो सोचा कि अब तो हमें इन पाप कर्मों को छोड़ देना चाहिए और पाप द्वारा अर्जित धन का भी दान कर देना चाहिए। इससे हमारे जीवन का कल्याण हो जायगा, आदिक विचारों से निमग्न होकर उसने सारे धन को दान में दे देने का निर्णय किया। उसकी इस बातका पता उसके ही किसी पड़ोसी ठग को पड़ गया। वह था भांड, सो उस भांड ने क्या किया कि खूब अपने शरीर में राख भभूत आदि लगाकर सन्यासी का भेष बनाकर पास की नदीके तट पर पहुंच गया। आसन लगा कर ध्यान की मुद्रा में बैठ गया। जब वह वेश्या नदी के तट पर गई तो सोचने लगी कि हमें जो सबसे अच्छा सन्यासी दिखेगा उसी को अपना धन दान दे दूंगी, सो उस वेश्या को वही ठग सन्यासी अच्छा दीखा जो कि भेष बनाकर गया हुआ था। जब ध्यान की मुद्रा में सन्यासी जी को देखा तो सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। सन्यासी ने पूछा कि तुम कौन हो? -वेश्या। अरे दूर हट। वेश्या का नाम सुनकर ही हम लोगों को पाप लगता है।-अरे महाराज आज से मैं वेश्यावृत्ति छोड़ दूंगी और वेश्यावृत्ति से कमाया हुआ जो धन है उसे भी आपको दान दे देना चाहती हूँ।-अच्छी बात। सो वेश्या ने वहां खीर खांड के भोजन बनाये, सन्यासी ने भी खाया और उससे नाना प्रकार के संकल्प कराकर दान भी लिया और आशीर्वाद रूप में कहा कि :-

गंगाजी के घाटपर, खाई खीर अरु खांड।
यों का धन यों ही गया, तुम वेश्या हम भांड॥

तो देखिये पाप द्वारा अर्जित धन पाप में ही लगता है और न्यायनीति ईमानदारी से कमाया हुआ धन ही अच्छे कार्यों में लग पाता है।

लोगों का तो ऐसा व्यर्थ का ख्याल है कि धन दौलत मायाचारी, छलकपट अन्याय आदि करके आता है। अरे यह धन तो आता है आत्मा के सरल परिणामों

के द्वारा । कोई न्यायनीति को अपनाये तो सही, फिर देखिये इन समस्त विभूतियों की प्राप्ति होती है या नहीं ? अवश्य होगी । होना क्या है इस मायाचार से ? अरे जो होना है सो होगा ही । इस मायाचारी से भरा हुआ जीवन बिताने में सार कुछ नहीं है । जीव का हित तो इसी में है कि वह अपने परिणामों को सरल बनावे, अन्य किसी प्रकार से इस जीव का हित नहीं है । ऐसा जानकर समस्त प्रकार की इन्द्रिय विषयों की अभिलाषा को छोड़ें और अपने प्रत्येक कार्य में इस आर्जव धर्म को प्रकट करें । देखिये पूजन में भी कहते हैं कि :–

कपट न कीजे कोय, चोरन के पुर न बसै ।
सरल स्वभावी होय, ताके घर बहु सम्पदा ॥
उत्तम आर्जव रीति बखानी, रंचक दगा बहुत दुःखदानी ।
मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन से करिये ॥
करिये सरल तिहुं जोग अपने, देख निर्मल आरसी ।
मुख करै जैसा लखै तैसा, कपट प्रीतअंगार सी ॥
नहिं लहैं लक्ष्मी अधिक छलकर, करमबंध विशेषता ।
भय त्यागि दूध बिलाव पीवै, आपदा नहिं देखता ॥

तो हमे उपरोक्त बात को विचार कर आर्जव धर्म को जीवन में अपनाना चाहिए । इस आर्जव धर्म के प्रकट होने से ही हमारे जीवन की सफलता है । सुन्दर आहार में विष का एक कण भी मिला हो तो व प्राण का घातक होता है, इसी प्रकार किसी के कितना ही ज्ञान हो जाय परन्तु यदि विषय कषाय से मन मलिन है तो वह आत्मा का घात ही करता है । या जैसे अन्धे के हाथ में दीपक हो तो उस दीपक से अन्धे को क्या लाभ मिलता ? इसी प्रकार मलिन चित्त वाले के शास्त्र ज्ञान कितना ही अच्छा हो उस ज्ञान से उसको कोई लाभ नहीं है । अनन्त भवों के बाद यह मनुष्य पर्याय बड़ी दुर्लभता से प्राप्त की है यह जानकर एक क्षण भी अपने जीवन को मायाचार रूप प्रवृत्ति की ओर न जाने दें, निर्मल सरल परिणामों से अपनी आत्मा का कल्याण करें, संसार के मार्ग दर्शक बनें । इस उत्तम पर्याय में आर्जव धर्म को धारण करने से ही मनुष्य पर्याय की सार्थकता है ।

(ॐ ह्रीं श्री आर्जव धर्मांगाय नमः)

उत्तम शौच

आज पर्व का चौथा दिन है। इस दिन शौच धर्म की चर्चा चलना है। क्रोध के अभाव में क्षमा धर्म प्रकट होता है। मान कषाय तथा माया कषाय के अभाव मे क्रमश: मार्दव और आर्जव धर्म प्रकट होता है, इनकी चर्चा करने के अनन्तर आज हम आप को लोभ कषाय के अभाव मे होने वाले शौच धर्म की चर्चा करनी है। शौच धर्म किसे कहते है ? 'शुचेर्भाव इति शौच' अर्थात् जो पवित्रता का परिणाम है वह शौचधर्म है। लोभपरिणति का न होना यही है पवित्रता और ऐसे शौचधर्म के साथ जो उत्तम विशेषण लगा है उसका अर्थ है -सम्यक् प्रकार से अपने हृदय मे पवित्रता लाये। हम आपको यदि कुछ काम करने को पड़ा है तो यही पड़ा है कि अपने हृदय मे उत्तम पवित्रता को पैदा करें। हम आपने अभी तक शरीर की शुचिता (पवित्रता) को ही धर्म माना, पर शरीर की शुचिता हो जाने मात्र से शौच धर्म नही होता। अपने मे शौच धर्म लाने के लिए अत मल शोधन करना होगा।

लोक मे भी शुद्ध खालिस को बोलते है। विजातीय पदार्थ का जहा सम्बन्ध न हो ऐसे पदार्थ को शुद्ध कहते है। खालिस, एक, प्योर पदार्थ जहां रहे, उसमें दूसरे पदार्थ का सयोग न हो ऐसे पदार्थ को शुद्ध कहते है। और जहा उसमे किसी दूसरी चीज का सम्बन्ध हो गया कि वस उसकी शुद्धि खतम। तो इसी तरह यह आत्मा अपने ज्ञान स्वरूप मे रहता है तब तो है यह खालिस पवित्र, अकेला और जहा इस आत्मा का इन विजातीय पदार्थो के साथ सम्बन्ध हुआ वहां हो जाता है यह अपवित्र। देखो ना, इस आत्मा के साथ कैसे कैसे विजातीय पदार्थ लगे हुए है, द्रव्य कर्म लगे है, नो कर्म लगे है, भाव कर्म लगे है, यह ही तो है एक साथ विजातीय पदार्थों का संयोग। इसी कारण यह आत्मा अपवित्र बन रही है। अरे आत्मा को शुचि करना है तो चेष्टा यह होना चाहिए कि जिन राग द्वेष मोह रूप परिणामों के द्वारा, जिन विषय कषायो रूप करतूतो के द्वारा इन द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म का संचय किया है उनको हटाये और अपने आपकी इस पवित्र

परम पावन ज्ञानस्वरूप आत्मा की सुध लें। लोभ कषाय समाप्त करें। शौच अर्थात् पवित्रता होना - जिन्हें वास्तविक पवित्रता का भान नहीं है, जो देह को ही अपना मान रहे हैं ऐसे अज्ञानी जीव शरीर की पवित्रता को ही अपनी वास्तविक पवित्रता मान रहे हैं। अरे यह शौचधर्म नहीं है।जिनको देह और आत्मा मे अभी भेदविज्ञान नही हुआ उनके आत्मा में अभी शौच धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई। सो जो जीव पर में आसक्त हैं वे महामलिनता में लिप्त हैं। देखिये-शौचधर्म करने चले हो तो पर की आसक्ति को छोड़ो। पर पदार्थ इस आत्मा से अत्यंत भिन्न हैं, निराले हैं, वे अपने ही अस्तित्व में है, तू अपने अस्तित्व में है, वे अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में है, तेरा सब कुछ तुझ में ही है और उन पर पदार्थों का उनका सब कुछ उनमे ही है। वे अपनी गुण पर्यायों से तन्मय हैं, तू सब कुछ उनमें ही है वे अपनी गुण पर्यायों से तन्मय हैं, तू अपनी गुण पर्यायों से तन्मय है ऐसी सम्यक् बुद्धि बनाकर वस्तुस्वरूप के स्वातंत्र्य को निरखकर परकी आसक्ति को तू छोड़ दे, पर मे आसक्ति छोड़कर तू शुचिता को अंगीकार कर। पर को पर जान और निज को निज जान, इससे ही पवित्रता का प्रादुर्भाव होगा।

इस जीव की ऐसी मिथ्या बुद्धि बन रही है कि ये पर पदार्थ मेरे हैं और मैं पर पदार्थो का हूं। मैं तो इन पर पदार्थों का ही बना रहूंगा, ये पर पदार्थ मेरे ही बने रहेगे, ऐसी जहाँ कुबुद्धि बनी है इस कुबुद्धि में शौच धर्म का आविर्भाव कैसे हो सकता है। अपने में यदि पवित्रता लाना है तो इस अंतरंग मिथ्या मान्यता को छोड़ना होगा और वस्तुस्वरूप के यथार्थ परिज्ञान द्वारा अपने आपके परम पावन निष्काम स्वरूप की शरण लेनी होगी। अरे इस परम पावन स्वरूप में किसी बाहरी चीज का कुछ भी लगाव नहीं है। यह तो स्वयं ज्ञानानन्द स्वभावी है, फिर मैं पर में लोभ को छोड़कर क्यों न अपने ही ज्ञानानन्द स्वरूप में लीन होऊँ, नहीं तो फिर मलिनता ही हाथ लगेगी। हमें शुचिता चाहिए, विशुद्धता चाहिए तो कर्तव्य है कि अपने अन्दर उठने वाले समस्त विकार भावों को इस तरह धो दें खतम करदें कि जैसे गंदे वस्त्र को धो उसकी गंदगी दूर कर दी जाती है।

देखिये-इस मिथ्या बुद्धि से ही तो ये सब बातें बनीं कि शरीर की शुचिता से आत्मा का धर्म होता है। अरे शरीर तो परम अपवित्र है। प्रथम तो यही बात देखिये कि माता पिताके रज वीर्य से यह शरीर बनता है। तो जब मूल से ही अशुचि चीजों से बना है तो फिर इसकी अशुचिता की और क्या कहना ही क्या

है यह शरीर राध, रुधिर, मलमूत्र, खून, पीप, नाक, थूक, कफ, खखार आदिक महा अपवित्र चीजों का पिण्ड है, इसके समान घिनावनी चीज और क्या कही जाय ? ऐसे इस अपवित्र देह की शुद्धि क्या कहीं गंगा जमुना आदिक नदियों में नहाने से हो सकती है ? बहुत से लोगों की ऐसी मान्यता है कि गंगा जमुना आदिक नदियों का अथवा किसी कुण्ड या किसी तालाब का जल पवित्र है, उसमें स्नान करने से समस्त पाप कर्म धुल जाते है, पर उनकी इस मान्यता में विडम्बना की बात ही आती है। यदि ऐसा हो तब तो फिर ये मल्लाह, ये कछुवे, ये मछली वगैरह जो कि जलके बीच ही रहा करते है उन्हें तो पूर्ण पवित्र हो जाना चाहिए था, पर ऐसी बात नही है। अरे कही इनमें नहाने से पवित्रता नहीं आती। पवित्रता आती है अपने आपके ज्ञानस्वभावी निर्मल आत्मस्वरूप मे स्नान करने से। तभी तो देखिये-एक जगह अर्जुन को श्रीकृष्णने उपदेश दिया है कि:–

आत्मानदी संयम पुन्य तीर्था, सत्योदका शीलतटोदयोर्मी।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डु पुत्र, न वारिणाशुद्ध्यति चान्तरात्मा॥

अर्थात् हे पाण्डुपुत्र, यह आत्मारूपी नदी संयमरूप पवित्र तीर्थ वाली है और इसमें शीलरूपी तट है और उसमें संयम सत्य रूपी जल भरा हुआ है और यहां नाना प्रकार की ये दयारूप लहरे उठ रही है। तो हे पाण्डुपुत्र ! तू इस आत्मारूपी नदी मे स्नान कर। अपने आपके ज्ञानस्वभाव मे अवगाहन कर। वहा डुबकी लगाकर अपने आपके उपयोग को उस ज्ञानस्वभाव में ही ले जाया जाय तो वहा पवित्रता का प्रादुर्भाव हो सकता है। और इस बाह्य स्नान आदिक से यह अशुचि शरीर कभी भी पवित्र नही हो सकता। जैसे मलसे भरे हुए घड़े को कितने ही वस्त्रों से, रंगबिरगी चित्रकारियो से, कागजो से अथवा स्वर्ण की चादर से सजाया जाय फिर उसे ऊपरसे कितना ही धोया जाय पर उसकी अपवित्रता मिट नही सकती, इसी तरह इस शरीर को कितना ही स्नान करके अथवा तेल कंघा आदिक संस्कार अथवा क्रीम पाउडर स्नो आदिक के प्रयोग से सजाया जाय पर इसकी अपवित्रता कभी मिट नही सकती।

आज तो इस शरीर को सजाने के न जाने कितने ही फैशन चले है। बहुत सी फैशन की चीजें तो ऐसी चल गई हैं कि जिनको देखकर बड़े बूढ़े लोग आश्चर्य करते हैं कि हमने तो ऐसी कभी कल्पना भी न की थी। देखिये-इन बाहरी साधनों

से शरीर की अपवित्रता मिट नहीं सकती। तो उस शरीर की स्नान आदिक से पवित्रता मानने जैसी स्थितिका भ्रम छोड़कर दृष्टि रखें अपने आपके पवित्र चैतन्य स्वभाव की ओर। हमें अपने अन्दर उठनेवाले इन लोभादिक कषायों की मलिनताओं को दूर करना है। देखिये अन्य कषायों के प्रादुर्भाव में एक लोभ कषाय ही कारण है। अब लोभ होने की अलग अलग बातें हैं। किसी को धन का लोभ होता, किसी को प्रतिष्ठा,यश, कीर्ति का लोभ होता, किसीको अपनी स्त्री पुत्रादिकों में लोभ होता। इस लोभ के कारण ही होता है मायाचार और जहां मायाचार है वहां मानका होना भी स्वाभाविक है। और जब मान हुआ तो वहां परमें अपने अनुकूल परिणमन न होने से क्रोध भी उत्पन्न हो जाता है। तो परिणाम क्या निकला कि पाप का बाप यह लोभ कषाय है। इस लोभ कषाय के कारण ही तो समस्त न्याय अन्याय, नीति अनीति, भक्ष्य अभक्ष्य आदिक का विवेक नहीं रहता है और लोभ कषाय में यह जीव अपना अहित कर डालता है। आपको एक कथानक शायद मालूम ही होगा कि काशी से पढ़कर एक कोई पंडित जी अपने घर आये। उन्होंने पढ़ने में बड़ा श्रम किया। ज्योतिष, अलंकार, छद काव्य, साहित्य न्याय, आदिक सब विषयों का अध्ययन किया था। जब घर पहुँचे तो वहां अपनी नव-विवाहिता स्त्री से बहुत बढ़ बढ़ कर बातें करने लगे। हमने वहां (काशीजी में) बहुत पढ़ा लिखा है। पूरी पंडिनाई हमने पास कर ली है। तुम्हें भी जो कुछ पूछना हो वह हमीं से पूछ लिया करना। तो स्त्री बोली-अच्छा बताओ-पाप का बाप कौन है? तो पंडित जी सोचने लगे कि अरे हमने इस प्रश्न को तो कहीं लिखा हुआ नहीं पाया। तब पंडितजी ने एक नहीं, अनेकों ग्रन्थ उलट पलट कर देख लिए पर कहीं उनका यह प्रश्नोत्तर लिखा हुआ न दिखा तो पंडितजी उस समय बहुत शरमाये और सोचा कि जब मैं केवल अपनी स्त्री के ही प्रश्न का उत्तर न दे पाया तो फिर गाँव के द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर मैं किस तरह से दे सकूंगा? सोचा कि देखो गुरुजी ने हमें पढ़ा तो सब कुछ दिया पर एक प्रश्न को उन्होंने हमसे छिपा लिया है अच्छा अब हमें गुरु के पास जाना चाहिए और इस प्रश्न का उत्तर लेकर आना चाहिए। उस रात पंडित जी को नींद नहीं आयी। और रात के चार बजे ही घर से चल पड़े। चलते चलते जब किसी गांव के निकट पहुंचे, सूर्यास्त भी हो गया तो सोचा कि इसी गांव में रात्रि को विश्राम करना चाहिए और सवेरा होते ही फिर चल देंगे। तो उस गांव में जो प्रथम मकान था उसी के द्वार की दालान में ही बिस्तर लगाकर लेट गये थके तो थे ही, सो झट सो गये। प्रातःकाल

शीघ्र ही जब घर की मालकिन ने देखा कि कोई अपरिचित व्यक्ति सो रहा है तो उसे जगाया और पूछा कि आप कौन हैं। कहां से आये हैं, और कहां जावोगे ? तो उसने सारा हाल बता दिया, कि मैं पंडित हूं, समतापुर ग्राम से आया हूं, वहां मेरी स्त्री ने मुझसे एक प्रश्न पूछ दिया, पाप का बाप क्या है ? तो इस प्रश्न का उत्तर लेने के लिए काशी जी अपने गुरु के पास जा रहा हूं।-अच्छा आप बतलाइये कि आप कौन हैं ? तो स्त्री ने बताया कि मैं तो वेश्या हूं-अरे रे रे मैं व्यर्थ ही यहां ठहर गया था, मुझे तो वेश्या शब्द सुनते ही पाप लग गया। अब मुझे प्रायश्चित लेना पड़ेगा।-कोई बात नहीं महाराज, ये लीजिये ५००/- रू० अगर आपको पाप लग गया है तो इन रूपयों के द्वारा अपना अनुष्ठान करके प्रायश्चित कर लेना। अच्छा ठीक है।-मगर महाराज, आप थके हुए हैं आप हमारे घर आ गये हैं तो अब भोजन करके जाना, यों ही नहीं। अरे यहां मेरा भोजन करना योग्य नहीं, बहुत बड़ा पाप लगेगा।-अरे महाराज उसके लिए लीजिए ५००/- रुपये और अगर आपको पाप लगे तो आप अपना अनुष्ठान करके प्रायश्चित ले लेना,-अच्छा ठीक है। अब वेश्या ने सारी भोजन सामग्री इकट्ठी कर दी और कहा महाराज आपकी हमारे ऊपर बहुत कृपा हुई हैं। आज तो आपके आ जाने से हमारा घर पवित्र हो गया है। अब तो हमारे ऊपर एक कृपा और कीजिये कि हमारे हाथ से बनाया हुआ भोजन कर लीजिये, तो हमारा जीवन ही सफल हो जाय। तो पंडितजी बोले-नहीं नहीं, ऐसा तो नहीं हो सकता। कई बातें मान लीं आपकी, पर अब यह बात न हो सकेगी।-अच्छा महाराज यदि आपको पाप लगे तो ये और ५०० रू० लीजिये ५००/-रू० की गिन्नी और इनके द्वारा अनुष्ठान करके प्रायश्चित कर लेना।-अच्छी बात। जब वेश्या भोजन बना चुकी, भोजन करने को पंडितजी तैयार हो गये तो फिर वेश्या ने कहा-महाराज आपने मेरे ऊपर बहुत कृपा की, आपने हमारी बातों को सब स्वीकार कर लिया। अब देखे यहां कोई देखता भी नहीं है, अब तो आप हमारे हाथ से एक कौर मुख में लेकर और खा लो। -अरे नहीं नहीं, ऐसा न करो, हमको पाप लगेगा।-अच्छा महाराज आपको पाप लगे तो ये लीजिए ५००/- रूपये की मोहरें, इनके द्वारा अनुष्ठान करके प्रायश्चित ले लेना। तो पंडित जी उसके हाथ से कौर अपने मुखमे डलवाकर खाने को भी तैयार हो गये। तो वेश्या ने कौर हाथ में लेकर मुख में तो न डाला, पर दो तीन थप्पड़ पण्डितजी के गालों पर जड़ दिया और कहा–अरे

जिस प्रश्न का उत्तर लेने के लिए तुम काशी जा रहे हो उसका उत्तर यहीं ले लीजिए। 'लोभ पाप का बाप बखाना', देखो लोभ में आकर हम आप क्या क्या अधर्म कार्य करने को तत्पर नहीं हो जाते।

अपने इस जीवन में भी देख लीजिये-इस लोभ कषाय के वशीभूत होकर ही तो सारे पापकार्य किये जा रहे हैं जिसको भी जिसका लोभ है वह उसके लिए स्वच्छन्द होकर पापमयी प्रवृत्तियों को भी करने में सकोच नही करता। किसी को स्त्री का लोभ है, किसी को धन दौलत का लोभ है, किसी की अपनी इज्जत प्रतिष्ठा का लोभ है, इन पर पदार्थों के लोभ मे आकर ही तो आज सारे अनर्थ हो रहे है। अरे यदि अपने आपके अन्दर इस शौच धर्म का प्रवेश कराना है तो इन समस्त बाह्य पदार्थों की उपेक्षा करके अपने आपके अन्दर विराजमान पवित्र आत्मतत्व का अवलम्बन लेना होगा। उसी की शरणमें आना होगा। इस निज ज्ञानस्वरूप आत्मा मे ही स्थित होवें, अपने आपके सम्यग्ज्ञान चारित्र में रमण करें तो यही है अपने आपकी वास्तविक पवित्रता। यहां की शरीर की ऊपरी सफाई रखने भर से काम नही चलेगा। अरे इस शरीरसे भिन्न इन पुण्य पाप आदिक पौद्गलिक कर्मो से विभिन्न निज आत्मस्वरूप का सही परिचय प्राप्त करें और अपने आपके अन्दर इन रागद्वेष विषय कषाय आदिक उठने वाले विकार भावों को जड़ से धो डाले तभी इस आत्मा में शौचधर्म का प्रादुर्भाव हो सकता है।

बाह्य बातो मे आसक्ति बनी रहना यह तो बड़ी मूढ़ता है। पवित्रता दो प्रकार की बताई गई है -(१) बाह्यशुद्धि (२) अतरंग शुद्धि। यद्यपि गृहस्थावस्था में रहकर यह बाह्य शुद्धि भी आवश्यक है। इसका निषेध तो नहीं किया जा रहा, यह तो आवश्यक ही है। क्योकि बाह्य शुद्धि न रखने से कृपणता का दोष भी रहेगा, भावों में पवित्रता भी नहीं रहती, व्यवहार-दृष्टि में अच्छा भी नहीं लगता, तो इसलिए बाह्य शुद्धि तो आवश्यक ही है, पर इसी को ही यदि कोई धर्म समझ बैठे तो वह मिथ्यात्व है। इस बाह्य शुद्धि मे धर्म न मानें, हालांकि यह बाह्यशुद्धि इस अंतरंग शुद्धि का कारण है इसलिए करना ही चाहिए, पर इसे ही अपना धर्म समझें और इसी बाह्यशुद्धि से ही यदि अपने को बड़ा समझें और दूसरों को तुच्छ समझें तो वहां इस शौचधर्म का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। ऐसा समझकर इस बाह्यशुद्धि को ही वास्तविक शुद्धि न समझें, अंतरंग शुद्धि की ओर ध्यान रखें। इन लोभादिक विकार भावो का त्याग करें।

परमार्थ बात तो यह है कि जो यहां चाह की बात चित्त में बैठी है कि मैं दूसरों का उपकार कर दूं, दूसरों को उपदेश दे दूं तो यह भी एक लोभ है, इस लोभ को भी त्यागना होगा तभी उत्तम शौच प्रकट हो सकता है। यह उत्तम शौच तो आत्मा का ही एक पवित्र गुण है। इस गुण को प्रकट करने के लिए समस्त पर पदार्थों का लोभ त्यागना होगा और अपने उस निर्लोभ स्वरूप की उपासना करनी होगी तभी वास्तव में शौच धर्म की प्रकटता हो सकती है। अरे जिन बाह्य पदार्थों का लोभ किया जा रहा है वे क्या हैं ? जड़ पौद्‌गलिक पदार्थ ही तो हैं। इनके पीछे पड़कर अपनी वास्तविक निधि को न पाना, यह तो एक अज्ञानता भरी बात है। एक लकड़ी बेचने वाला गृहस्थ था, उस पुरुष का नाम तो था रांका और उसकी स्त्री का नाम था बांका, सो वे रांका और बांका (स्त्रीपुरुष) दोनों ही लकड़ियां बीनने के लिए जंगल जा रहे थे। रांका आगे जा रहा था और बांका पीछे थी, सो रास्ते मे रुपयों से भरी हुई थैली रांका को दिखी। पैर से ठोकर लगी तो रुपये खनक गये। वह समझ गया कि इसमे तो काफी रुपये भरे हैं, पर वह उस पर धूल डालने लगा कि कहीं इस थैली को देखकर मेरी स्त्रीको लोभ न आ जाय। इतने मे ही बांका भी आ पहुंची पूछा यह क्या कर रहे हो ? तो रांका बोला कि इस रुपयोकी थैली पर धूल डाल रहा हूं, तो स्त्री फिर बोली-अरे तुम धूल में धूल क्या डालते हो ? छोड़ो, आगे बढ़ चलो। तो देखिये-उस स्त्री की दृष्टि में वह धन धूलवत् था। यहा यह शिक्षा दी गई है कि यदि अपने आपके अन्दर शौचधर्म को प्रकट करना है तो यहां के दिखने वाले इन पौद्‌गलिक ढ़ेरों को धूलवत् समझें, उनमें न ललचावें और पवित्रता रखकर लोभ कषाय का त्याग करें।

अरे यहां के इन पौद्‌गलिक ढेरों को (सोना चांदी आदिक वैभवों को) ही सर्वस्व समझकर उनके पीछे हैरान होना, उनसे अपना बड़प्पन समझना, उनके ही पीछे रहकर अपने जीवन को खो देना यह तो एक मूढ़ता भरी बात है। अरे अपने अन्दर बैठी उन कलुषताओं को धोकर परम पावन बनो। यहां तृष्णा कर करके किसी को तृप्ति नहीं मिल सकती। देखिये--महमूद गजनवी ने सोमनाथ के मन्दिर पर १७ बार चढ़ाई की। वहाँ के वैभव को हड़पा मूर्तियों को खण्डित किया, बहुत सा धन अपहरण भी किया पर उसे संतोष न मिला। उसकी तृष्णा और भी बढ़ती गई। आखिर उसका जब अन्त समय आया तो कुछ होश हुआ और अपनी करनी पर उसे बड़ा पछतावा हुआ और कुछ लोगों से कह दिया कि देखो हमारा जब

मरण हो जावे तो अर्थी से बाहर मेरे दोनों हाथ निकाल देना ताकि दुनियां के लोग भली भांति समझ लें कि देखो यहां पर बड़े बड़े अत्याचार करके, बड़ी बड़ी तृष्णायें करके, लोभकषाय के वशीभूत होकर इतना धन का संचय किया, और वह आज यहां से खाली हाथ जा रहा है । सो यहां का कुछ भी साथ जाने वाला नहीं है ।

व्यर्थ में मिथ्या बुद्धि करके यहां के पर पदार्थों में अपनत्व की बुद्धि की जा रही है । अरे यह बाह्यपदार्थों का लोभ इस आत्माका कुछ भी सुधार करने वाला नहीं है । समस्त प्रकार के लोभों को तजकर अपने निर्लोभ स्वरूपमय दृष्टि में दृष्टि दें, इसमें ही हम आपका भला है । बहुत से लोगों को इस धन की ऐसी ममता होती है कि इस धनके पीछे अपनी आत्महत्या भी कर लेते हैं अथवा उनका हार्ट ही फेल हो जाता है । आज जो बेईमानी, ब्लेक मार्केटिंग, इनकम टैक्स की चोरी करने आदि की अनेक लूटें जो लोगों में दिख रही हैं उन सब का मूल कारण यह लोभ ही तो है । लोगों को जो स्त्री के प्रति लोभ होता है वह क्यों होता है ? उनकी दृष्टि इस शरीर पर रहती है । इस शरीर से भिन्न जो आत्मतत्व है उस पर उनकी दृष्टि नहीं जाती इसी कारण तो वे इस अपवित्र शरीर में ही लोभ करके उसके पीछे अपना जीवन व्यर्थ ही गंवा देते हैं ।

साहित्य का एक प्रसिद्ध दृष्टान्त देखिये—तुलसीदास जी को अपनी स्त्री के लोभ में आकर क्या घटना घटी इस पर जरा ध्यान दीजिये । उसकी स्त्री—(नवविवाहिता स्त्री) जब अपने पीहर चली गई तो उससे मिलने की उनको तीव्र इच्छा हुई, सो रात्रि में ही अटपट पगडंडियों से चले जा रहे थे वे । रास्ते में एक नदी पड़ी, उसमें उतराते हुए किसी लकड़ी के ठूठ को ही रात्रि में नौका समझकर उस पर बैठकर किसी तरह से नदी तैर गये । नदी पार होकर अटपट रास्तों से उस गांव पहुंचे जहां कि उनकी ससुराल थी । जब ससुराल के घर में जाने को हुआ तो घर के पीछे से ही छाल दीवाल से चढ़ने की बात सोची । आखिर कोई रस्सी सी लटक रही थी उसको पकड़ कर चढ़ गये । वह रस्सी नहीं थी बल्कि सर्प था । खैर किसी तरह ऊपर पहुंचे, स्त्री से मिले व अपनी सारी कथा कह सुनाई । तो देखिये-एक स्त्री के लोभ में ही आकर तुलसीदास जी-कितनी कितनी परेशानी में पड़े । एक स्त्री के ही लोभ में पड़कर वे अपने आपको भूल गये । न जाने कितनी

विह्वलताओं मे पड़े। यह है शरीर का लोभ। तो जब वहां स्त्री आयी तो उसने कहा कि .–

जैसा प्रेम है नारि से, वैसा हरि से होय।
चला जाय संसार से, पल्ला न पकड़े कोय ॥

तो देखिये-अत्यत भिन्न पर पदार्थो के लोभ मे आकर कितना यह उनके पीछे लग रहा है। ऐसी तन्मयता से यदि अपने आपके परम पावन स्वरूप की ओर लगा जाय तो इसमे कोई सदेह नही कि यह कर्मबन्धन से हटकर अपने आपके निजगृह सिद्धालय मे पहुच जाय। तो समस्त प्रकार के लोभो को त्यागकर अपने आत्मा को पवित्र बनाये। इस पवित्रता के द्वारा ही हमारा उद्धार हो सकता है, अन्य किसी उपाय से हमारा उद्धार नही हा सकना।

बड़े वर्णीजी ने (गणेशप्रसाद जी ने) एक जगह अपने आख्यान मे लिखा है कि कोई एक लडकी द्रोपदी बगाल मे थी। उसकी शादी भी हो गई थी। बाद मे उसका पति मर गया। तो सास ससुर ने उसे घर से निकाल दिया। वह अपने मा बाप के पास रहने लगी। कुसयोग से वह चारित्रभृष्ट हो गयी। सो मा बाप ने भी उसे घर मे न रखकर पास के ही खुद के बगीचे मे एक कोठा बनवाकर वही रख दिया। अब वह द्रोपदी उसी बगीचे मे रहा करती थी। वहा के फल फूल आदि से जो आय होती थी उससे गुजारा करती थी, पर चारित्रभृष्ट होने के कारण उस बगीचे के फल दैवयोग से कडवे हो गये थे वहा के कुये का पानी भी कड़वा हो गया था। यह था उसके पापकार्यो का परिणाम। यह बात वहा के सभी लोगो को मालूम थी, तो सभी लोग उसकी हसी उड़ाते थे। एक बार उस द्रोपदी लड़की ने दुष्कृत्यो पर बड़ा पछतावा किया। उसके परिणामो मे कुछ विशुद्धि जगी और विचार किया कि अब मै तीर्थयात्रा करके भगवान का अभिषेक करूगी, वही मेरा प्राणान्त भी होगा, ऐसा उसे आभास हुआ। सो जब वह अपने पिता से तीर्थयात्रा करने जाने का निवेदन करती है, अन्य सभी लोगो को भी इसका पता पड़ा, तो सभी लोग उसकी बडी हसी करने लगे। देखो बिल्ली चूहों का भक्षण करके हज्ज करने जायगी– सो उस द्रोपदी ने कहा अरे अब मै वह द्रोपदी नही रही जो पहिले थी। अब मेरे हृदय मे पवित्रता आयी है, इसका प्रमाण–जाओ बगीचे मे जाकर देखो वहा के सभी फल मीठे हो गये है और वहा का जल भी मीठा हो गया है। जब लोगों ने वहा जाकर देखा तो बात सत्य मिली और जब

तीर्थ यात्रा में गयी, वहां उसने भगवान का अभिषेक किया तो वहीं उसका प्राणान्त भी हो गया। यह घटना भी अन्य लोगों को सही दिखी। तो देखिये—परिणामों की ही तो सारी बात है। यहां हम आपमे से कोई सोचे कि हमने तो बड़ा लोभ किया। बड़े पाप किये, मेरा कैसे उद्धार हो सकेगा ? तो उनका यह सोचना ठीक नही। अरे अपने आपके अन्दर अंत: सावधानी रखकर पवित्रता का प्रादुर्भाव करें इन मलिननाओं को हटायें तो हम आप भी अपने अनन्त चतुष्टय के धनी बन सकते हैं। अब जरा इस बातका निर्णय कर लो कि यहां सारभूत चीज क्या है। अरे अपने आपका जो समस्त प्रकार के जन्म जरा मरण आदिक रोगो से पृथक अत ज्ञानदर्शन स्वरूप अविनाशी अखण्ड आत्मा है उसका ध्यान करना यही सारभून बात है और उम के आश्रय से उत्तम शौचधर्म प्रकट होता है।

कही कही तो अखबारोमे विचित्र घटनाये सुनने को मिली है जैसे एक घटना सुनी है कि किसी के घरमे कोई एक चूहा कही से २०/- की गिड्डी उठाकर लाया। सो वह चूहा उस गिड्डी पर इतना मुग्ध था कि उस गिड्डी के चारों ओर खुशी से नाचा करता था। एक दिन ऐसा हुआ कि वह चूहा उन नोटो को उस विल मे से निकाल कर किसी दूसरी जगह लिये जा रहा था, इस बात को मकान मालिक ने देख लिया। एक-एक रुपया करके जब १९ रू० वह वहा रख आया, सिर्फ १/- लाने को रह गया तो उसे लेने को जब वह गया उसी बीच मकान मालिक ने जो १९/- थे उन्हे उठा लिया। जब चूहा लौटकर आया, उस जगह उस गिड्डी को न पाया तो उसी जगह तड़फ-तडप कर दु.ख के मारे प्राणान्त को प्राप्त हो गया। यह सब बात किसकी है ? यह बात है लोभ कषाय के आसक्ति की।

इस जीव के पर पदार्थों मे ऐसी तन्मयता हो रही है, ऐसी आसक्ति बनी हुई है कि इसे अपने आपकी कुछ सुध ही नही है। अपने ही अन्दर पड़ी हुई अनन्त विभूति को न जानकर यह प्राणी अपने जीवन के दुर्लभ क्षणो को व्यर्थ मे ही खो रहा है। अरे ख्याल करो उन मुनिराजो को जिनका शरीर तो अपवित्र सा रहता है, जो नहाते नही, शरीर को वस्त्राभूषणों से सजाते नही, उनको इस शरीर की सफाई का ध्यान नही रहता। वे तो आन्तरिक सफाई करने का ही ध्यान रखते है। सो इन आन्तरिक लोभादिक कषाय विकारों को ध्वसकर अपने आपकी पवित्रता की प्रादुर्भूति करना यही है उत्तम शौचधर्म। बाह्य पर पदार्थों की लिप्सा,

छोड़ो और अपने अंत• विराजमान परम पावन निष्काम कारण परमात्म तत्त्व की लिप्सा बनाओ। इसी से जीवन की शोभा है।

हम आपको मूल मे काम क्या करना है ? अरे जो पापभाव हैं उनका त्याग करना है। यदि अन्दर के पाप भावोका त्याग तो न हो और बाह्य आडम्बरों में ही फसे रहे तो उससे धर्म पालन न हो सकेगा। मुक्ति न मिलेगी, शान्ति न प्राप्त होगी। अपने आपको समस्त पर पदार्थों से परभावो से न्यारा जानकर उसमें ही स्थित होकर, उसमे ही रमकर, उसको ही अपने उपयोग मे लेकर पवित्रता की प्रादुर्भूति होती है, ऐसी पवित्रता को प्राप्त करना यही है उत्तम शौचधर्म का पालन। यह शरीर अस्थिर है, क्षणभगुर है, रोगादिक का घर है, जब कि आत्मा परम पावन है फिर भौतिक पदार्थो मे तृष्णा क्यो की जा रही है ? समता और सतोष आना चाहिए, मूर्छा, आसक्ति हटाना चाहिए। यह आत्मा अकेला ही आता है अकेला ही जाता है, फिर यहा किस चीज की तृष्णा करना ? संतोष धारण करे। दीन मत बने, परिग्रह धन सम्पदा को न जोडे, इसी मे भला है कहा भी है ना कि –

गोधन गज धन बाजि धन, और रतन धन खान।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान॥

जब अपने अन्दर सन्तोषधन है तब समझिये कि मुझे सब कुछ मिल गया। अगर पर्याय बुद्धि मे ही बसे रहे, धन दौलत, कुटुम्ब परिजन, मकान महल, सोना चादी, हाथी घोड़ा आदिक कुछ भी प्राप्त हो जाये, पर सन्तोष की प्राप्ति बिना वे सब दु ख के ही कारण है। यहा के दिखने वाले समस्त बाह्य पदार्थ मेरे कुछ नही है मै अपने आपके ज्ञानानन्द स्वरूप मे लीन होऊ, वीतराग भाव बनाऊ तो इस भावना से शौचधर्म आता है।

शरीर का एक परमाणु मात्र भी मेरा नही है। मै तो ज्ञानदर्शन से सम्पन्न हू, अमूर्तिक हू, आकाश की तरह निर्लेप हू, फिर इस लोभ कषाय के चक्र मे यो रहना। यह लोभ ही तो सबसे प्रबल कषाय है, जो कि १०वें गुण स्थान तक रहती है। निर्लोभी बने। देखो चमरी गाय का दृष्टान्त दिया है ना कि शिकारी लोग उस गाय को पकडने के लिए जगल मे उसे दौड़ाते है, जब वह भगती है तो उसकी पूछ झाड़ियो मे फस जाती है। वह गाय अपनी पूछ के बालो के लोभ मे वही रुक जाती है। और शिकारियो द्वारा अपने प्राण गंवा देती है। हम आप

भी इस लोभ कषाय से ही कर्मबन्धन में पड़ रहे हैं। गुरुओं की सत्कृपा से इस निर्मल साम्यरस गंगा का निर्मल तट मिला है तो वहां प्रतिदिन कम से कम एक बार डुबकी तो लगायें, इसमें स्नान करने से ही वास्तविक पवित्रता आती है जो पवित्रता अक्षय है, ध्रुव है।

शुचिता आत्मा का स्वभाव है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से आत्मा में शुचिता आती है। जैसे यदि रत्न कीचड़ में गिर पड़ता है तो अनेक यत्न करके भी उसे निकाल लिया जाता है, उसी प्रकार उस महामलिन अपवित्र देह रूपी कीचड़ में पड़े हुए ये सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप रत्नों को इससे बाहर निकालना है जिससे कि दुबारा वे उसमें न गिर सकें, किन्तु कैसे आश्चर्य की बात है कि आज लोग शरीर में पड़े हुए उन रत्नों को उसमें से निकालना ही भूल गये। और शरीर की अशुचिता को दूर करने में सारे साधन और समय को लगा रहे हैं। अरे यह शरीर तो संसार की अपवित्र वस्तुओं का गोदाम बना हुआ है। अथवा मूल में वस्तुतः अशुचि तो हमारे ही मोह राग द्वेष रूप परिणाम है, इनको दूर करना है अपनी अंतः शुद्धि पर जोर दें, ज्ञानीजन इस शरीर के द्वारा आत्मसाधन करके मोक्ष पद की प्राप्ति करते हैं और अज्ञानीजन इस शरीर में स्थित सारभूत तत्व को न जानकर इस शरीर के द्वारा अनेक प्रकार के पाप कार्य करके निन्द्य गतियों में परिभ्रमण करते है। जहां तक यह शरीररूपी घर मौजूद है, इन्द्रियों की शक्ति नष्ट नही हुई ई, आयु पूर्ण नहीं हुई है तब हमें अपने कल्याण के लिए हमेशा प्रयत्न करना चाहिए आत्मा को मलिन करने वाली भीतर के इस लोभकषाय को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

जहां मन शुद्ध हो वहां शौच धर्म प्रकट होता है। संसार को अंधकारमय जानकर एक चित्त से इस शौचधर्म का पालन करो। इन दुर्भावनाओं का नाश करो। अकलंक और निष्कलंक की तरह अपने परिणाम बनाओ। इस पवित्र शौचधर्म की छत्र छाया में रहकर शान्ति पाओ। किसी नगर में एक लोभी साहूकार रहता था। उसको यह शौक था कि सोने की प्रत्येक वस्तु का सोने का जोड़ा अपने पास रखना था। उसने अत्यन्त लोभ से पैसा कमाकर सोने के दो बैल, दो घोड़े और हाथी आदिक जानवर अपने तहखाने में रख दिये और वहां एक आराम कुर्सी में बैठकर संतोष माना करता था। यह बात किसी देव को मालूम हुई तो देव इसके लोभ की परीक्षा करने उसके घर पहुंचा और साहूकार को तुरन्त आवाज

देकर बाहर बुलवाया। सेठ ने तुरन्त उठकर किवाड़ खोला और देखता है कि एक देव बाहर खड़ा है सेठ ने आने का कारण पूछा सो देव ने बताया कि मैं तुम्हारी इच्छा की तृप्ति करने आया हूं। तुम्हें जो मांगना हो मांग लो। तो सेठ ने सोचा कि मैं क्या मांगू ? धन दौलत, सोना चांदी अथवा राज्य तक भी मांगूं तब भी शान्ति न मिलेगी। तो ऐसी चीज मांग लू जिससे तृप्ति हो जाय। तो सेठ ने कहा कि मुझे ऐसा वरदान दो कि मैं जिस चीज को छू लूं वह स्वर्ण बन जाय। तथास्तु कह कर देव चला गया। अब क्या हुआ कि सेठ कुर्सी पर बैठा वह कुर्सी भी सोने की बन गयी। कपड़ो को छुवा तो वे भी सोना बन गये, फिर पीट को छुवा तो वह भी सोने की बन गयी। अब तो वह बड़ा मौज मानने लगा, क्योंकि जो भी चीज छुवे वह स्वर्ण की बन जाय। अब जब दोपहर का समय हुआ, भूख लगी, खाना खाने को गया तो पानी के लोटे को छूने पर वह भी सोने का बन गया, थाली को छूने से वह भी सोना बन गई औ यहा तक कि यह खाना भी गले मे पहुचकर सोना बन गया। तो अब सेठ को रोटिया गले में गड़ी। उसको बड़ी वेदना हो गयी। तो अन्त मे वह विचार करता है कि यह सोना जो मुझे दु खदायी हुआ, यह सब लोभ कषाय के परिणाम से हुआ, सो वह तुरन्त लोभ कषाय का त्याग करके और उस देव की आराधना करके अपना दुःख दूर कर लेता है तो इसी प्रकार हमे भी इस लोभ को दूर करके अपने निज कारण परमात्मदेव की उपासना करके सुख शान्ति पाना चाहिए, पवित्रता की आविर्भूति करके सर्वकल्याणमय स्थिति का पौरुष ही इष्ट होना चाहिए। यही सारभूत बात है। पूजन की निम्न पंक्तियो को याद करो :-

धरि हिरदै सन्तोष, करहु तपस्या देह सों।
शौच सदा निर्दोष, धरम बड़ो संसार में॥
उत्तम शौच सर्व जग जाना, लोभ पाप को बाप बखाना।
आशा पास महा दुःखदानी, सुख पावे सन्तोषी प्रानी॥
प्राणी सदा शुचिशील जप तप, ज्ञान ध्यान प्रभावतें।
नित गंगजमुन समुद्र न्हाये, अशुचि दोष स्वभावतें॥
ऊपर अमल मल भरो भीतर, कौन विध घट शुचि कहैं।
बहुदेह मैली सुगुन थैली, शौच गुण साधू लहैं॥

(ॐ ह्रीं उत्तम शौच धर्माङ्गाय नमः)

उत्तम सत्य

आज सत्य धर्म की विवेचना चलती है। उत्तम सत्य क्या है ? उत्तम सत्य मायने पूर्ण सत्य। पूर्ण सत्य वह होता है जो निरपेक्ष, निरूपाधि ध्रुव स्वभाव है, वह होता है पूर्ण सत्य ! जो स्वतः सिद्ध अपने आप में अंतः प्रकाशमान हो वह पूर्ण सत्य है ऐसे पूर्ण सत्य की आराधना जो पुरूष करते है उनमें होता है यह उत्तम सत्य धर्म। जीवन मे अशुद्ध बने रहे, अभिप्राय में निर्मलता न हो, यही मूल मे असत्यता है। मिथ्या बुद्धि मे जो अपना जीवन गुजारा जा रहा है वह जीवन तो एक असत्य जीवन है अपने जीवन को यदि सत्य के सांचे में ढालना है तो सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि सम्यग्दर्शन सहित अपना जीवन बिताये अपने आप का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान बनाये रहे कि यह मै आत्मा तो इस ससार मे, इस लोक मे अकेला ही हूं यहा मेरा किसी पर पदार्थ से रंच भी सम्बन्ध नही है।

इस जीवन मे तो सत्य बोलने वाले की प्रतिष्ठा है इस सत्यधर्म का अभ्युदय तो तभी होगा जब कि इन क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक विकार भावों का परित्याग होवे। तभी तो सबसे पहिले चार बातें कही हैं। (१) उत्तमक्षमा, (२) उत्तममार्दव, (३) उत्तम आर्जव, (४) उत्तमशौच। अब सत्य धर्म की बात कह रहे है। वे चारों बाते इन चार कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) के छोड़ने के लिए ही तो है। इन चारों कषायों के छोड़े बिना आत्मामें सत्य धर्म का प्रादुर्भाव नही हो सकता। इस निरपेक्ष ध्रुव आत्मस्वभाव को समझकर उसी रूप अपना वचन व्यवहार रखना इस निरपेक्ष ज्ञायक स्वभाव को उद्देश्य मे लेकर ऐसे इस ध्रुव ज्ञायक स्वभावी पूर्ण सत्य की चर्चा करना, समझना, प्रतीति मैं लेना यही है उत्तम सत्य।

मूल बात यह है कि ज्ञानी पुरुष तो जहा तक बनता है मौन से रहता है और कभी कुछ बोलेगा तो तत्व सम्बंधी बात ही बोलेगा। जितने भी वचन व्यवहार वह करेगा उनके प्रति उसकी सत्य प्रतीति रहती है। यह बचन व्यवहार करना मेरा धर्म नहीं है। धर्म तो है अंतःनिर्विकल्प परिणति। यह वचन व्यवहार रूप

प्रवृत्ति धर्म नहीं। वचन व्यवहार की तो बात छोड़ो, जहां पर किसी प्रकार के विचार, विकल्प, तरंग उठें वह भी इस आत्मा का धर्म नहीं। आत्मस्वभाव में एकाग्रता से स्थित हो जाना यह है वास्तविक धर्म। यही है सत्यधर्म। पर इस उत्तम सत्य धर्म के अधिकारी पूर्णरूपेण मुनिजन ही हो सकते हैं। जिन्होंने इस सत्य महाव्रत को अंगीकार किया है ऐसे मुनिजन ही उत्तम आत्मस्वभाव की एकाग्रता रूप सत्य धर्म के पात्र हो सकते हैं पर उससे निम्न श्रेणी में रहकर तो सब प्रकार के वचन व्यवहार करने पड़ते है, पर वचन व्यवहार कैसा रहना चाहिए इस पर कुछ दृष्टिपात कीजिये।

लोग अपने धंधो के विषय में जो भी वचन व्यवहार हैं उसमें भी अभिप्राय विशुद्ध रहना ही चाहिए। अपना ऐसा वचन व्यवहार रहे जो स्व पर हितकारी हो। तो सत्य धर्म वह है जो कि सर्व प्राणि मात्र के लिए हितकारी रुपचर्या है। मूलत: सत्य वचन मे अभिप्राय की मुख्यता है याने उस वचन में यह लक्षण घटित होना चाहिए कि वह वचन व्यवहार स्व पर का हित करने वाला हो। हितकारी वचन हो। मित अर्थात् परिमित वचन हो। और प्रिय वचन हों ये तीन बातें (हित, मित, प्रिय) जिन वचनो में न हों उन्हें सत्य वचन नहीं कह सकते। यदि कोई वचन सत्य कहा जा रहा है और वह दूसरे का हित करने वाला वचन नही है तो ऐसे वचन को असत्य वचन ही कहा गया है। जैसे कोई व्यक्ति हमसे किसी दूसरे के विषय मे बुराई कर रहा हो और उस व्यक्ति ने उन बातों को सुन लिया जिसके विषय में बुराई की जा रही थी, अब बुराई करने वाला व्यक्ति तो चला गया, बाद में वह व्यक्ति जिसके प्रति बुराई की जा रही थी, आया और हमसे पूछताहै कि बताओ वह व्यक्ति हमारे विषय में क्या कह रहा था ? तो वहां पर सत्य बात को भी उसे बताना न चाहिए, क्योंकि उन बातो के बता देने से तो उसका दिल दुख जायगा। हालांकि वे वचन यदि उसको सुना देते तो वह सत्य ही बात थी पर इसमें चूंकि स्व पर हितकारिता का लक्षण घटित नहीं होता अत: यह भी असत्य ही माना जायगा। अगर किसी के विषय में बुराई की जा रही हो, वह हमसे आकर पूछे कि मेरे विषय मे क्या बुराई बतला रहा था ? तो हमने कह दिया कि कुछ नही। तो यद्यपि बात तो असत्य कही, पर इसे असत्य न माना जायगा। क्योंकि यदि सत्य बोल दिया जाता तो उस जगह तो एक बड़ा अनर्थ हो जाने की सम्भावना थी। परस्पर मे वैमनस्य बढ़ जाता। तो अपना वचन व्यवहार हित, मित और प्रिय इन तीन गुणों से परिपूर्ण होना चाहिए।

एक तो वचन व्यवहार करना ही न पड़े ऐसी भावना रखो, पर कदाचित करना पड़ता है वचन व्यवहार, तो वहां यह देखते रहना चाहिए कि उसमें ये तीनो गुण (हितमितता और प्रियता) पाये जा रहे है या नहीं । लोग तो अपना वचन व्यवहार कषाय युक्त होकर करते हैं, पर इस असावधानी का परिणाम यह होता है कि जगह जगह विपदायें सहते रहते हैं । यदि अपना व्यवहार सत्यपूर्ण नहीं है, कषायों से मलीमस है तो वहां अपने किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती । न लौकिक सिद्धि प्राप्त होगी न पारलौकिक । देखिये-सत्यवचन से ही इस जीवन की शोभा है । यदि जीवन में सत्यता को अपना लिया तो समझे कि मैंने सर्वस्व पा लिया और यदि जीवन असत्यता से रंगा हुआ है तब तो समझिये कि हममें और तिर्यन्चों में (पशुपक्षियों मे) कोई अन्तर नहीं है । जैसे कोई पुरुष मकान तो बहुत अच्छा बनवा डाले और उसमें रहने वाला कोई न हो तो वह मकान तो ऊजड़ कहलाता है, ठीक इसी प्रकार यदि कोई धन दौलत आदिक से खूब सम्पन्न हो परन्तु उसमें सत्यता न हो तब तो वह जीवन ऊजड ही है ।

इस जीवन की शोभा तो सत्य से है शास्त्रों मे कहा है कि ''सत्यं शिवं सुन्दरं'', ये तीनो चीजें प्रत्येक चीज मे होना चाहिए । चीज सत्य हो, शिवस्वरूप हो और सुन्दर हो । जैसे किसी की पत्नी सुन्दर रूपवान है, पर सत्यवती और शिवयुक्त नहीं है तो उसे कौन चाहेगा ? और कोई स्त्री सुन्दर भी है, आज्ञाकारिणी भी है और शिवस्वरूप नही है तो ऐसी स्त्री को भी कौन चाहेगा ? और कदाचित् पत्नी भले ही कुरूप हो, पर शील से रहती हो आज्ञाकारिणी हो तो भी वह सुन्दर कही गई है । केवल यहां की इस बाहरी सुन्दरता में ही न पड़ जाना चाहिए । प्रत्येक वस्तु सत्य, शिव और सुन्दर इन तीनों ही गुणों से युक्त होना चाहिए । तो सत्यं शिवं सुन्दरम् को प्राप्त हों यही है सत्यधर्म की शिक्षा ।

यदि इस एक सत्यधर्म का ही प्रादुर्भाव इस जीवन में हो जाय तो समस्त मिथ्या अभिप्राय टल जायेंगे । जब तक मिथ्या अभिप्राय रहेगा तब तक मन, वचन, काय की समस्त क्रियायें ठीक होगी । देखिये कैसी लोगों की धारणा है कि मैं परका पालन पोषण करने वाला हूं मै न होता तो इनका काम ही न चल सकता था । तो यह कैसी मिथ्या बुद्धि है । यह सब असत्यता है । जैसे कोई कुत्ता चलती हुई गाड़ी के नीचे आ जाय तो वह क्या भ्रान्ति मचाता है कि मै गाड़ी चलाता हूं, और कदाचित गाड़ी रुक जाय तो उसे क्रोध आता है कि यह गाड़ी क्यों रुक गई ? इसी प्रकार यहां लोगों का ऐसा मिथ्या श्रद्धान है कि मैं धन कमाता हूं, मैं परिवार

का पालन पोषण करता हूं, मैं अमुक संस्था का चलाने वाला हूं आदि, ये सब मिथ्या बुद्धियां ही तो हैं। उनमें रहकर तो अपना एक असत्य जीवन ही गुजारा जा रहा है। सत्य अभिप्राय यह है कि मै सब कुछ अपने आपका ही कर सकता हूं। किसी पर का मै कुछ भी नही कर सकता इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धापूर्वक यदि हमारा जीवन व्यतीत होता है तो वह एक सत्य जीवन है।

सत्यता की परख हमें करना चाहिए शान्ति की कसौटी से। सर्व जीवों के प्रति हित की बुद्धि हो तो उस क्रियामे शान्ति बसी है। स्व पर का हित बसा है तो वह सत्य क्रिया हो सकती है, और यदि यह लक्षण उसमें घटित न हो तो वह सत्य नहीं कहा जा सकना। देखिये–राजा वसु जिनके कि सत्य की बड़ी प्रसिद्धि थी, लेकिन ब्राह्मणी का पक्ष लेकर उन्हे नरक का पात्र बनना पड़ा। कहां तो सत्य की प्रसिद्धि और कहा नरक का वास, यह किस कारण से ?-उसका मुख्य कारण था सिर्फ एक बार झूठ बोलना। एक बार ही झूठ बोल देने का यह फल है तब फिर जो लोग जीवन भर इस असत्यता का ही स्वागत करते है उनकी न जाने क्या गति होगी।

यहा तो बहुत से लोग व्यापार आदिक कार्यो मे असत्यता को ही अपनाये हुए रहते है। आज के युग मे तो असत्यता का ही नाच सर्वत्र दिख रहा है। यही कारण है कि आज का मानव नाना प्रकार की आधि व्याधि और उपाधियों का पात्र बना हुआ है। हां कोई एक जमाना था जबकि सत्यता का आदर था। कभी किसी को यह शका न रहती थी कि हमे कोई ठग लेगा या हमारे साथ बेईमानी का बर्ताव करेगा, पर आज का मानव तो छल कपट बेईमानी आदि कार्य करने में रंच भी भय नही करता है। पर जरा सोचिये तो सही कि इस असद्व्यवहार का फल क्या होगा ? अरे इसके फल में विकट कर्म बन्धन होगा नरक निगोद आदिक की विकट यातनायें सहनी होगी। तो कोई ऐसा श्रद्धान मत करें कि मेरे झूठ बोलने के कारण धन की प्राप्ति होती है। अरे ग्राहकों को जब यह विश्वास बना रहता है कि यह तो ईमानदार आदमी है तभी वे उससे लेन देन का व्यवहार करते हैं। अगर उन्हें यह पता पड जाय कि यह तो झूठ का व्यवहार करना है, बेईमानी करना है तो फिर उससे लेन देन का व्यवहार नहीं करेंगे। तो वस्तुतः धन भी इस सत्यता के ही कारण आता है। तो यदि अपने इस जीवन में सुखी बनना है और आगे के लिए भी अपना भवितव्य सुधारना है तो सत्य को अपनाना होगा। यदि ऐसी बात न होती तो सत्य का नाम आता ही क्यों ? फिर तो असत्यता

का ही व्यवहार करने का उपदेश होता। असत्य का व्यवहार करने से तो इस जीवन की भी बरबादी है और भविष्य के लिए भी बरबादी है। एक ऐसी घटना है कि एक सेठ सेठानी किसी नगर में रहते थे। उनको एक नौकर की आवश्यकता थी। सो एक पुरुष आया। बोला–सेठजी, हमें नौकरी चाहिए, कहीं बताओ। तो सेठ बोला-कि तुम क्या वेतन लोगे? -अरे हमें कुछ न चाहिए, केवल रोटी कपड़ा और साल में एक बार झूठ बोलने को मिल जाना चाहिए। सेठ ने सोचा कि इतना सस्ता नौकर और कहां से मिल जायगा। सो उसने अपने ही घर उसको नौकरी दे दी। अब वह साल भर तो बड़ी अच्छी तरहसे रहा, ईमानदारी से काम करता रहा। जब साल पूरा होने में अंतिम दिन था तो वह नौकर सेठ से बोला-कि कल हम एक बार झूठ बोलेंगे। उसकी इस बात पर सेठ सेठानी ने ही कुछ विशेष ध्यान न दिया। सबसे पहिले वह सेठानी से मिला और कहा -देखिये सेठानी जी सेठजी तो वेश्या गामी हो गये है, वह रोज एक वेश्या के पास जाते है। तुम्हारी ओर उनका कुछ भी ध्यान नही है। तभी तो देखो तुम्हारे कोई संतान नहीं है। तो हम तुम्हें एक उपाय बताते है। उस उपाय को करलो ताकि वह वेश्या इनकी ओर कभी देखे ही नही। -बताइये उपाय आप ऐसा करो कि जब सेठजी सो जावें तो उस्तरे से उनके एक तरफ की मूछ हजामत बना दो और एक तरफ खड़े रहने दो, जब रात को यह उस सकल में वेश्या के पास जायेगा तो वह उनके रूप को देखकर पहिचानेगी भीनही और घृणा भी कर लेगी। (दिखो कुछ उस्तरे इस तरह के भी आते हैं जिनसे सोते हुए में हजामत बना दी जाय और पता न पड़े) तो सेठानी से तो यह कह दिया और उधर सेठ से कहाकि सेठजी आपकी सेठानी तो बदचलन हो गयी है। वह तो एक जार से अपना व्यवहार रखती। और उसने आज रात को आपके मारने का षड़यंत्र रचा है। तो आज आप सावधानी से सोना, पास में तलवार रख लेना, मौके पर काम देगी। नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि आपको अपने प्राणों से हाथ धोना पड़े। अब क्या था, जब रात्रि हुई, सोने का समय हुआ तो उधर सेठ को निद्रा नहीं आ रही थी कुछ अधजगे से ही पड़े हुए थे। उधर उस्तरा तथा जल लेकर सेठानी आयी, मूंछ बनाने का प्रयास किया तो इतने में ही सेठ की नींद खुल गयी, उसको अपने नौकर की बात पर पूर्ण सत्यता मालूम पड़ी। तो तुरन्त ही सेठ ने सेठानी पर तलवार का प्रहार करने का संकल्प किया। ज्यों ही मारने वाला था त्यों ही उस नौकर ने तुरन्त आकर सेठ का हाथ पकड़ लिया-बोला यह क्या अन्याय कर रहे हो? अरे मैंने आपसे कहा था न

कि मैं साल में एक बार झूठ बोलूंगा तो मैंने झूठ बोलकर यह विडम्बना पैदा कर दिया है। अब मुझे अपना वेतन पूरा मिल चुका। तो देखिये केवल एक बार ही झूठ बोलने से कितनी बड़ी विडम्बना खड़ी हो गयी। यदि वह नौकर सेठ का हाथ पकड़ न लेता तो सेठानी के प्राणों का घात होता, सेठ को भी शूली का दण्ड मिलता तथा उस नौकर पर भी सबका अविश्वास हो गया और फिर उसे कहीं नौकरी नहीं मिली। वह भिखारी बन कर दर दर ठोकरें खाता रहा। तो अब एक बार ही झूठ बोलने का यह फल है तब फिर जीवन भर जो झूठ बोलने का व्यवहार रखे तो न जाने उसका क्या हाल होगा अब इस असत्य के व्यवहार को खतम करें और सत्यका व्यवहार करके सुखी हो।

गृहस्थ जनो के समस्त वचन व्यवहार असत्य कहे गये हैं क्योंकि वे परमार्थ भूत आत्मतत्व से सम्बंधित वचन व्यवहार नही है। गृहस्थीमें तो आजीवका सम्बंधी बाते ही है, वहाँ परमार्थ सत्य का व्यवहार तो नहीं हो सकता। पर मोटे रूप से इस सत्यता को ही अंगीकार करें। देखिये-पुराण पुरुषों ने कैसी अपनी सत्यता को निभाया। अगर किसी को कोई अपना वचन दे दिया तो उसे निभाना अवश्य चाहिए राजा दशरथ का दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने केकई को वचन दे दिया था, सो उन्होने अपने प्रियपुत्र श्रीराम को वनवास का आदेश देकर भरत को राज्य देकर अपने वचन पूर्ण किये, इसी तरह से जब रावण सीता को हर ले गया तो रावण के भाई विभीषण ने रावण से कहा कि तूने अनुचित कार्य किया। तू उनकी सीता वापिस दे दे। जब रावण ने उसका कहना न माना तो कहा कि मैं असत्य का कभी साथ नहीं दे सकता, मै तो सत्य का ही साथ दूंगा। सो देखिये-जब विभीषण जब श्रीराम से जा मिला तो श्रीराम ने भी उस प्रसंग में वह वचन दिया कि ऐ विभीषण मैं तुझे लंकेश बनाऊंगा। श्रीराम अपने इन वचनों को पूरा करने में प्रयत्नशील रहे। सो जिस समय लक्ष्मण को शक्ति लगी तो उस समय का सम्वाद है कि श्रीराम बहुत दुःखी हुए, तो उनके साथी ने समझाया कि हे श्रीराम आप दुःखी मत हों। हम लोग लक्ष्मण को लगी हुई शक्ति का निवारण करेंगे। तो श्रीराम क्या बोले-मुझे लक्ष्मण के शक्ति लग जाने का दुःख नहीं, सीता के हरे जाने का दुःख नहीं, पर दुःख इस बात का है कि मै जो विभीषण को वचन दे चुका हूं कि तुझे लंकेश बनाऊंगा तो मेरे उन वचनों की पूर्ति कैसे हो, इस बात का दुःख है। तो देखिये-पुराण पुरुष ऐसे होते थे जो कि अपने वचनों के बड़े पक्के थे। वे सदा सत्यवचन व्यवहार को ही अंगीकार करते थे। असत्य वचन व्यवहार का तिरस्कार करते थे।

केवल पुराण पुरुषों की ही बात क्या कहें, यहां का ही अभी जल्दी का ही एक दृष्टान्त देखिये-अमेरिका में एक विलियम नोपिया नाम के एक प्रसिद्ध इतिहासकार हो गये हैं। उसके जीवन की एक घटना है कि एक दिन वह कहीं जा रहे थे। सो रास्ते में उन्हें एक लड़की रोती हुई दिखी। उस लड़की से उन्होंने पूछा-बेटी तुम क्यों रोती हो ? तो उसने कहा कि मेरी मां ने बाजार से यह मिट्टी का घड़ा मंगवाया था सो लिए जाते हुए में फूट गया है, मुझे डर है कि मेरी मां मुझे मारेगी इसलिए मैं रो रही हूं। कृपया आप इसे अगर जोड़ सके तो जोड़ दीजिए। तो वह इतिहासकार विलियम नोपिया कहता है कि बेटी मैं इसे जोड़ तो नहीं सकता, पर तुम्हें पैसे दे दूं और तुम दूसरा घड़ा खरीद लो यह हो सकता है। जब उस लड़की ने पैसे मांगे तो उस समय विलियम नोपिया के पास में एक भी पैसा न था, जेब खाली थी। तो बोले बेटी मै आज तो तुम्हें पैसे नहीं दे सकता, हां कल यदि इसी स्थान पर इस समय मुझे मिल जावो तो मै तुम्हें पैसे अवश्य दे दूंगा, अच्छी बात। तो दोनों ही अपने अपने घर चले गये। अब क्या घटना घटी कि - सो सुनो- उस विलियम नोपिया के घर तार आया उसके किसी इष्टमित्र का - मित्र ने लिखा कि कल के दिन हम अमुक ट्रेन से आ रहे हैं सो आप स्टेशन पर आकर ट्रेन में मिल लेना अब देखिये वही समय था मित्र से ट्रेन में मिलने जाने का और वही समय था उस लड़की से मिलकर पैसे देने जाने का। क्या करे वह ? तो उसने अपना निर्णय यही किया कि मुझे अपने वचन निभाना चाहिए सो मित्र के लिए चिट्ठी लिखकर एक नौकर को उससे मिलने के लिए भेजा। चिट्ठी में यह लिख दिया कि मित्र मैं बहुत ही आवश्यक कार्य में फंसा हूं, आने का बिल्कुल अवकाश नहीं है, और खुद उस लड़की के पास पहुंचकर उसे पैसे देता है। तो देखिये किस तरह से उसने अपने दिये हुए वचन की रक्षा की। सत्य का ही तो यह पालन है। विवेकी पुरुष सदा सत्य का ही स्वागत करते हैं। चाहे तन, मन, धन, वचन सर्वस्व अर्पित करना पड़े पर वे अपने सत्यधर्म का पालन करने से नहीं चूकते।

सत्यधर्म का पालन करने का फल अनुपम होता है, इस सम्बन्ध का एक और भी दृष्टान्त देखिये-कोई एक राजा का पुत्र था। उसे चोरी करने की आदत पड़ गई थी। तो उसकी बुरी लतों के कारण राजा ने उसे घर से निकाल दिया। उसे कहीं किसी मुनिराज से मिलन हो गया। तो मुनिराज से कहता है वह राजपुत्र

कि महाराज मैंने अपने जीवन में बड़े पाप किये, चोरी की, जुवा खेला, शराब पी, मधु मांस सेवन किये, मुझे बड़ी बुरी लतें पड़ गयी है। ये मुझसे नहीं छूटती। सो कृपा करके आप मुझे कोई ऐसी बात बताओ कि जिससे हम सही मार्ग में लग सकें। मुनिराज बोले ठीक है बेटे, तुम आज से सत्य धर्म का पालन करो। झूठ न बोला करो। -बड़ी अच्छी बात। उस राजकुमार ने उस दिन से सत्य को ही अपनाया, पर चोरी करने की लत तो थी ही। सो एक बार गया राजा के यहा चोरी करने के लिए सो जब महल के द्वार पर पहुंचा रात्रि के समय में तो पहरेदार ने रोक दिया, पूछा कि तुम कौन हो ? कहा जा रहे हो ? तो उसने सत्य बोल दिया कि मै एक राजकुमार हू और राजा के महल मे चोरी करने जा रहा हू। तो पहरेदार ने यह सोचकर कि अरे कही चोर लोग खुद थोडे ही कहने कि हम चोरी करने जा रहे है। यह तो कोई राजा का ही रिस्तेदार मालूम होता है तो उस पहरेदार ने अन्दर जाने का आदेश दे दिया। तो राजाओ के यहा तो प्राय' ऐसा ही होता है कि रात को सोने के समय सब वस्त्राभूषण उतार कर रख दिये जाते है और दूसरे कपड़े पहिन लिए जाते है। तो वह राजपुत्र महल मे जाकर क्या करता है कि राजसी वस्त्रो को पहिनता है, आभूषणो को पहिनता है और सारे वस्त्राभूषणो को वह लेकर महल से बाहर निकलता है। और पहरेदार से कहता है कि मेरे लिए कोई अच्छा सा घोडा घुड़साल से ले आओ। तो पहरेदार ने यह जानकर कि यह तो राजा का ही कोई खास आदमी है, घुडसाल गया और अच्छा सा घोड़ा दे दिया, पर वह राजपुत्र कुछ थका हुआ सा था इसलिए अन्यत्र कही न जाकर उसी घुड़साल मे सो गया। प्रात काल जब सभी की निद्रा खुली तो देखा कि सारे के सारे वस्त्राभूषण सब गायब। उनकी खोज होने लगी। परन्तु खोजते हुए वह राजकुमार मिल गया तो राजा ने उससे सारी घटना पूछी तो उसने सही सही बात बता दी। आखिर राजा ने वहाँ यही निर्णय किया कि हे राजपुत्र तुम अब कही मत जाओ। तुम तो इस मेरी लड़की से विवाह करो और सुख पूर्वक अपना जीवन बिताओ। पर वह राजपुत्र बोला कि जिस मुनिराज के कहने से मैने सत्यधर्म को पाला है उन्ही के पास जाकर मै सुख पाऊगा। आखिर उन मुनिराज के पास वह पहुचा-बोला महाराज-आपके आदेशानुसार एक इस सत्यधर्म का पालन मैने किया तो उसका फल मुझे देखने को मिल गया और सारी घटना भी मुनिराज से कह सुनाई। और, उस राजपुत्र ने मुनिराज से पुनः निवेदन किया

कि महाराज आप हमें और कुछ दीजिये ताकि मेरा कल्याण हो । मुनिराज बोले बेटे मेरे पास और क्या है, अब मेरे ही जैसे बन जाओ तो तुम्हारा कल्याण है । तो वह राजपुत्र मुनि हो गया और अपना कल्याण कर गया । तो देखिये-सत्यधर्म का पालन करने का यह फल होता है । इस असत्य का व्यवहार तो मन, वचन, काय से छोड़ना चाहिए । इस सत्यधर्म से वर्तमान में भी सुख मिलता है और भविष्य में भी । आगम में सत्य के सम्बन्ध में चार बातों का निरूपण किया है (१) सत्य महाव्रत (२) भाषासमिति (३) उत्तम सत्यधर्म और (४) वचनगुप्ति । इनका अन्तर इस प्रकार है कि जैसा पदार्थ है वैसा ही कहना, चाहे वह परिमित हो या अपरिमित, वह सब सत्य महाव्रत है । सत्य वचन को परिमित ही बोलें अर्थात् हित, मित और प्रिय वचन बोलना भाषा समिति है । केवल आत्मविषयक वार्ता करना सत्यधर्म है और वचन मात्र का गोपन करना वचनगुप्ति है । यह उत्तम सत्यधर्म का प्रकरण है, जिससे हम यह जानना चाहिये कि यदि बोलना ही पड़े तो आत्म विषयक हित मित प्रिय वचन बोलना ही योग्य है, अपना जीवन सत्यता का हो, व्यर्थ के असद्व्यवहारों से दूर रहें और वचन व्यवहार अपना ऐसा रखें कि जिससे दूसरों का व अपना हित हो, कल्याण हो । खुद का भी विकास हो और दूसरों का भी विकास हो, ऐसा ही वचन व्यवहार होना चाहिए । असत्यता से तो अपना अहित ही है ।

देखिये-पहिली बात यह है कि हम आप आज मनुष्य पर्याय में आये हुए हैं । सौभाग्य से आज इस पर्यायमें आना हुआ । अभी तक तो न जाने कैसी कैसी खोटी दुर्गतियों में रहना पड़ा और वहाँ के घोर दुःख सहने पड़े । एकेन्द्रिय दोन्द्रिय आदिक की अनेक योनियां ऐसी मिली होंगी कि हम आपको वहां अक्षरात्मक वचन व्यवहार की शक्ति ही प्राप्त नहीं हुई थी । आज तो इस ढंग का वचन व्यवहार किया जा सकता है कि जिसका कुछ कहना ही क्या ? न जाने कितने कितने कलात्मक ढंगों से वचन व्यवहार कर सकते हैं । तो इन पाये हुए वचनों का सदुपयोग यही है कि हित मित प्रिय अपना वचन व्यवहार रहे । बुरे वचन, करकस वचन तो अपने को भी और दूसरोंको भी पीड़ा पहुंचाने वाले होते हैं । देखिये-एक लकड़हारे का बड़ा प्रसिद्ध दृष्टान्त है । एक लकड़हारा जंगल में से लकड़ियां बीनकर ले जाया करता था । उन्हीं को बेचकर वह अपने परिवार का पालन पोषण करता था और किसी तरह से गरीबी में अपना समय व्यतीत किया करता था एक बार एक घटना

घटी कि जब वह जंगल में लकड़िया बीन रहा था तो उसके निकट एक शेर आया। पहले तो लकड़हारा शेर को देखकर भयभीत हो गया, पर जब उसने पास में आकर अपने पैर का पंजा दिखाया तो लकड़हारे को उसमें लगा हुआ कांटा दिखा। उस कांटे की पीड़ा को वह शेर सहन नहीं कर पा रहा था। सो लकड़हारे ने उसके पैर में लगे हुए कांटे को निकाल दिया। शेर ने बड़ा आभार माना, और लकड़हारे से अपनी भाषा में बोला- ऐ लकड़हारे तुम रोज रोज लकड़ियों का गट्ठा अपने सिर पर न ले जाकर मेरी पीठ पर लाद ले जाया करो। -बड़ी अच्छी बात। अब क्या था ?लकड़हारा उस शेर पर लकड़िया लाद कर प्रति दिन अपने घर ले जाता था। सो लकड़हारा पहिले तो कोई १५-२० किलो लकड़ी ले जाता था, अब शेर पर वह डेड़ दो मन लकड़ियां प्रतिदिन लाद ले जाता था उन लकड़ियों को बेंच दिया करता था। पहिले तो कोइ ८ आने की लकड़ियां बेंचकर काम चलाया करता था। अब दो चार रुपये रोज का काम होने लगा। यों थोड़े ही दिनों में लकड़हारा मालामाल हो गया। उसके पड़ोसियों ने एक दिन उससे पूछा कि भाई तुम इतनी जल्दी मालामाल कैसे हो गये ? तो उसके मुंह से निकल आया अजी एक स्याल (गीदड़) मेरे हाथ लग गया है, उसकी वजह से मैं इतनी जल्दी मालामाल हो गया हूं। इस बात को घर के अन्दर बंधे हुए शेर ने सुन लिया। उन दुर्वचनों की चोट उस शेर के हृदय में बहुत बड़ी लगी। आखिर जब दूसरे दिन लकड़हारे ने जंगल में लकड़ियों का गट्ठा बांधा और शेर पर रखने को हुआ तो शेर बोला- ऐ लकड़हारे इस समय तो बस दो ही बातें हैं-या तो तुम इस कुल्हाड़ी का तेज प्रहार मेरे गर्दन पर मारो या मैं तुम्हें खा जाऊंगा। लकड़हारा डरा, कांपा और बोला-हे बनराज, आज हमसे ऐसी क्या भूल हो गई जिससे तुम इस तरह कह रहे हो ? तो शेर - बोला बस अब कुछ नहीं कहा जाता, या तो मेरे गले में शीघ्र ही कुल्हाड़ी का तेज़ प्रहार कर दो नहीं तो मैं तुझे खा जाऊंगा। जब लकड़हारे ने अपने प्राणों का खतरा निश्चय रूप से जान लिया तो शेर के गर्दन में कुल्हाड़ी का तेज प्रहार किया। वह शेर मरता हुआ कह रहा था -ऐ लकड़हारे, तुम्हारी इस कुल्हाड़ी की पैनी धार ने मेरे हृदय में इतनी बड़ी चोट नहीं दी जितनी चोट तुम्हारे दुर्वचनों ने दी कि मेरे हाथ में एक स्याल पड़ गया है, इसी से मैं मालामाल हो गया हूं। तो देखिये-दुर्बचन बोलने का यह परिणाम हुआ करता है। अज्ञानी जन व्यर्थ ही खोटे बचन व्यवहार करके अपना भी जीवन दुःखमय बना डालते हैं और दूसरों के लिए भी वे दुःख के कारण बनते हैं।

यह दुर्वचन व्यवहार भी असत्य व्यवहार है। जीवन में जब तक सम्यग्ज्ञान न होगा तब तक सत्य व्यवहार बन ही नहीं सकता। इस सम्यग्ज्ञान के द्वारा ही हम आपका कल्याण हो सकता है। जो जीव मिथ्याज्ञान में रहकर अपने खोटे अभिप्रायों से भरा हुआ जीवन व्यतीत करते हैं उनका जीवन क्या जीवन है? उनका जीवन तो एक पशुवत अविवेक से ही भरा हुआ असत्यता का जीवन है। जब तक अपने आपके सत्यस्वरूप की (निजस्वरूप की) आराधना नहीं की जाती तब तक तो उसे असत्य जीवन ही समझिये। सत्य जीवन से ही इस जीव का भला है। आगम मे चार प्रकार का कहा हुआ असत्य वचन है, उसका त्याग करो। (१) जो विद्यमान अर्थ का निषेध करना सो प्रथम असत्य है जैसे कर्मभूमि के मनुष्य तिर्यन्च के अकाल मृत्यु नही होती आदि वचन बोलना। (२) फिर जो असद्भूत को प्रकट करना सो दूसरा असत्य है जैसे देवों के अकाल मृत्यु कहना, देवो को मांसभक्षी कहना तथा (३) वस्तु के स्वरूप को अन्य विपरीत स्वरूप वाला कहना सो तीसरा असत्य है। और (४) गर्हित वचन कहना चौथा असत्य वचन है। सावद्य, अप्रिय और निन्द्य वचन बोलना गर्हित वचन है। हमें चाहिए कि चार प्रकार की विकथाओ रूप वचन का त्याग करें। लोक व्यवहार में भी सत्य से ही काम चलता है। लोग बड़े बड़े व्यापार उद्योग धंधे करते हैं तो वहां पर भी जब तक सत्यता है तभी तक ही वहां व्यापार सम्बंधी आदान प्रदान होता है जहा एक बार भी असत्यता की पोल खुल गई वहां फिर व्यापार का आदान प्रदान का काम बन्द हो जाता है। तो इस जीवन में भी सत्य का व्यवहार करने में ही अपनी भलाई है।

सत्य से ही सकल विद्याओं की सिद्धि है तथा कर्म निर्जरा है। सत्य वचन से इस भव और परभव में जीव सुखी रहता है। जितनी भी हम आपकी धार्मिक क्रियायें हैं विधि विधान हैं वे सब तभी सफल समझिये जबकि उनमें सत्यता का व्यवहार किया जा रहा हो। इसी तरह से व्रत, तप, संयम तपश्चरण आदिक में भी सत्यधर्म का पालन करें तभी जीवन की सफलता होगी। जो सत्य वचन हैं सो ही धर्म हैं। यह सत्य वचन व्यवहार इस भव में भी इस जीव को सुखी करने वाला है और इसका भविष्य भी उज्जवल बनाये रहने में कारण हैं। सब धर्मों में मुख्य धर्म है सत्यवचन व्यवहार। अस्तु लौकिक व पारलौकिक सभी दुःखों से निवृत्त होने व सत्यसुख की प्राप्ति के लिए सत्यवचन ही ग्रहण करना योग्य है।

अपना व्यवहार दूसरों के प्रति सत्यता का हो, ईमानदारी का हो, किसी को दगा न दें, किसी के साथ छल न करें जैसे कि एक कथानक आया है कि एक बार कोई पुरुष जब किसी जंगल के अन्दर पहुंचा तो उसे एक शेर दिखा वह भय से कांप गया और भगा। तो शेर ने उसका पीछा किया। थोड़ी दूर जाकर वह पुरुष किसी वृक्ष पर चढ़ गया। शेर उस पेड़ के नीचे आगया। जब वह पुरुष पेड़ पर चढ़ गया तो वहां भी पेड़ पर एक रीछ बैठा हुआ था। अब उस पुरुष के भय का क्या कहना। ऊपर रीछ और नीचे शेर। अब वह शेर उस पुरुष का भक्षण करने के उद्देश्य से उस पेड़ के नीचे ही खड़ा रहा। जब रीछ ने भय से कांपते हुए उस पुरुष को देखा तो बोला-ऐ मनुष्य ! तू अब भय मत कर, तू मेरी शरण में आया है, तेरे साथ मैं दगा नहीं कर सकता। थोड़ी देर के बाद में उस रीछ को नींद आने लगी, तो वह शेर पुरुष से कहता है कि ऐ मनुष्य तू इस रीछ को नीचे ढकेल दे, नहीं तो मेरे चले जाने पर यह तुझे खा जायगा। शेर की बात उस पुरुष को पसंद आ गई तो उसने उस रीछ को ऊपर से ढकेलने का प्रयास किया, पर इतने में ही उस रीछ की नींद खुल गई। अब थोड़ी देर में उस पुरुष को नींद आने लगी तो शेर बोला ऐ रीछ यह मनुष्य बड़ा दगाबाज होता है, देख अभी यह तुझे नीचे ढकेल रहा था, अब इसे तू नीचे ढकेल दे ताकि यह मेरा भोजन बने। तो वह रीछ क्या जवाब देता है कि ऐ बनराज यह मनुष्य चाहे मुझे दगा दे दे पर मैं इसे दगा नहीं दे सकता। क्योंकि यह मेरी शरण में आया हुआ है। तो यहां शिक्षा लेने योग्य बात यह है कि हम जीवन में किसी को दगा न दें, किसी के साथ छल न करें। चाहे कोई दूसरा भले ही हमें दगा दे दे, पर हम दगा न दें।

अपना व्यवहार सत्यता पूर्ण रखें, ईमानदारी का अपना व्यवहार रहे, सत्य जीवन ही एक वास्तविक जीवन है यह सत्य ही इस भवरूपी गहन अंधकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान है। इस सत्यधर्म का प्रयोजन यही है कि खुद को भी शान्ति मिले और दूसरों को भी शान्ति मिले। एक कथा सत्यघोष की प्रसिद्ध है। वह कहता था कि मैं सदा सत्य बोलता हूं। इस बातकी बड़ी प्रसिद्धि भी हो गई थी। उसने एक जनेऊ पहिन लिया और उसमें एक छुरी लटका ली, और यह प्रतिज्ञा कर ली कि अगर मेरे मुख से कभी असत्य वचन निकल जायेगा तो मैं अपनी जिह्वा काट लूंगा. लेकिन एक बार उसके जीवन में क्या घटना घटी कि

एक बार किसी सेठने अपने चार कीमती रत्न उसके पास रख दिये और कहा कि मैं बाहर जा रहा हूं। जब वहां से वापिस लौटूगा तो ले लूंगा। सो वह उसके पास रत्न रखकर बाहर चला गया। उन कीमती रत्नोंको अपने हाथ में आया जानकर सत्यघोष का चित्त चलित हो गया। सोचा कि अब इन्हें उस सेठ को मै न दूंगा। जब वह सेठ बाहर से लौटकर घर आया तो अपने रत्न सत्यघोष से मागे पर उसने न दिये। तो वह सेठ उन रत्नो को न मिलते जानकर पागल सा हो गया, उसकी सारी चेष्टाये उन्मत्त जैसी हो गई। वह गली गली मे जब चाहे यही चिल्लाये कि सत्यघोष ने मेरे रत्न ले लिए। जब इस बात का पता राजा को पड़ा तो उसने उस सेठ को अपने महल मे बुलाया और सारी बात मालूम की। तो राजा ने सही बात की जानकारी के लिए एक उपाय रचा। सत्यघोष को अपने महल मे रानियो के सग जुवा खेलने के लिए बुलवाया। जब सत्यघोष राजा के महल पहुंचा तो वही जनेऊ और उसमे चाकू लटकी हुई थी। रानियो ने जुवा मे उसके जनेऊ और चाकू जीत लिया और व दोनो चीजे (जनेउ और चाकू) रानियो ने दासी को दिया और कहा कि तुम इन दोनो चीजो को लेकर सत्यघोष के घर जाओ और इन दोनो निशानियो को दिखाकर उसकी स्त्री से यह कहना कि सत्यघोष ने वे चारो रत्न मगाये है जो कि सेठ जी ने रखे थे। स्त्री ने चारो रत्न निकालकर दे दिये। जब दासी उन रत्नो को निकालकर राजमहल मे पहुची तो सत्यघोष की सारी पोलपट्टी खुल गयी। अब राजा ने उस सेठ की भी परीक्षा की कि वे वास्तव मे रत्न उसी के थे या नही। सो क्या किया कि बहुत से अन्य रत्नो मे उन चारों रत्नो को मिला दिया और सेठ से उन चारो रत्नो को छाटने को कहा। तो सेठ ने जो अपने चारो रत्न थे उन्हे छाट लिया। बस राजा ने सत्यघोष के लिए आदेश दिया कि सत्यघोष के लिए तीन दण्ड दिये जा रहे है उनमे से वह किसी भी एक दण्ड को भोगना स्वीकार करे। वे तीन दण्ड कौन से थे? (१) मल्लके द्वारा ३२ घूसे सहे। (२) थाली भर गोबर खावे। (३) अपनी सारी सम्पत्ति छोड़े। अब इन तीनो दण्डो मे से उसने मल्ल द्वारा ३२ घूसे सहने स्वीकार किये, पर जब मल्ल ने पहला ही घूसा लगाया तो वह टें बोल गया। बोला-बस हम इस दण्ड को स्वीकार नहीं करते। हमे तो थाली भर गोबर खाने का दण्ड दिया जाय। सो जब गोबर को खाने लगा तो एक दो कौर भी गोबर न चला, थाली भर गोबर की तो बात ही क्या। फिर उसने अपनी सारी सम्पत्ति दे देने का दण्ड स्वीकार किया। अब

यहां देखना यह है कि केवल एक बार ही असत्य बोल देने से इतनी बड़ी विडम्बना अपने जीवनमें खड़ी हो सकती है तब फिर जो लोग सारे जीवन भर असत्य सम्भाषण करते रहते हैं, अपना असत्य वचन व्यवहार रखते है उनकी न जानें क्या दुर्दशा होगी। तो सत्य वचनो से ही इस जीवन की शोभा है और उसका महात्म्य है कहा भी है कि :-

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप॥

अपने अभिप्राय को विशुद्ध रखना सर्व प्रथम आवश्यक है। सत्य वचनों मे अभिप्राय की ही कसौटी रहती है। अपना अभिप्राय स्व पर हित कारी होना चाहिए। एक दृष्टान्त है कि एक काई पापात्मा पुरुष अपने हाथ मे एक चिड़िया लेकर किसी मुनिराज क पास पहुचा, मुनिराज मे कहा कि आज मै आपकी इस बात की परीक्षा करूगा कि आप ज्ञानी है भी या नही। सो उसने चिड़िया के गले मे अगूठा लगाकर कहा-वताओ यह चिड़िया जीवित है या मरी है ? तो मुनिराज ने सोचा कि यदि मै कहता हू कि यह जीवित है सो यह झट अगूठे से दाबकर मार देगा और इसे मरी हुई वताकर मेरा अपवाद करेगा। साथ ही इस चिड़िया की हत्या भी हो जायगी सो यह जानते हुए भी कि जीवित है, यही कहा कि अरे यह तो मरी हुई चिडिया लिए हो, वस उस पुरुप ने चिडिया को अपने हाथ से छोड़ दिया, वह उड गयी, और कहा देखिये महाराज अब मैने समझा कि आप कुछ नही जानते। अरे कहा तो जीवित चिडिया हम अपने हाथ मे लिए थे और आप उसे मरी वता रहे थे, आप कुछ नही जानते, पर यहा मुनिराज का आशय तो देखिये-अभिप्राय तो देखिये कितना निर्मल था। उस चिड़या के प्रति कैसा करूणाभाव था। हालाकि उस जगह मुनिराज ने झूठ वोला, लेकिन झूठ वोलने पर भी वहा सत्य ही माना जायेगा झूठ नही, यद्यपि मुनिराज ने बाद मे प्रायश्चित लिया यह बात अलग हे, पर यहा देखना है कि इन वचनो की सत्यता और असत्यता अभिप्राय मे ही परखी जाती है।

निज आत्मपदार्थ जैसा सत् है उसका वैसा ही जानना देखना यही उत्तम सत्यधर्म है। हम आज यह निर्णय कर लेना चाहिए कि उत्तम सत्य क्या है। सो पर के आश्रय विना स्वय सत् स्वरूप जो आत्मा का चैतन्य स्वभाव है, अनादि

अनन्त अहेतुक है, एक स्वरूप है, वही उत्तम सत्य है। इसके अवलम्बन से ही सर्व सिद्धियां हैं। इस आत्मस्वभाव से अतिरिक्त जो भी वचन हैं वे सब असत्य हैं। इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर इन वचनों का सदुपयोग कर लेना चाहिए। सत्य के बिना आत्म उन्नति नहीं की जा सकती, इसलिए सम्यग्दर्शन सहित हित, मित, प्रिय वचन बोलकर सत्यधर्म को अंगीकार करें, सो ही कहा है-

कठिन वचन मत बोल, पर निन्दा अरु झूठ तज।
सांच जवाहर खोल, सतवादी जगमें सुखी ॥
उत्तम सत्य वरत पा लीजे, पर विश्वासघात नहिं कीजे।
सांचे झूठे मानस देखे, आपन पूत स्वपास न पेखे।
पेखे तिहायत पुरुष सांचे, को दरब सब दीजिये।
मुनिराज श्रावक की प्रतिष्ठा, सांच गुण लख लीजिये।
ऊंचे सिंहासन बैठ वसुनृप, धर्म का भूपति भया।
वसुझूठ सेती नर्क पहुंचा, स्वर्ग में नारद गया ॥

(ॐ ह्रीं श्री सत्य धर्माङ्गाय नमः)

उत्तम संयम

आज संयम धर्म का दिन है। संयम शव्द दो शव्दों से मिलकर बना -सम और यम, सम मायने सम्यक प्रकार से, यम मायने यमन करना, दबा देना, सम्यक प्रकार से मार देना, किनको मार देना ? उन विभाव भावो को, विकार भावों को, जो कि आत्मसाधना मे वाधक हुआ करते है, उनको भली प्रकार से नष्ट कर देना, इसका नाम है संयम। मूल मे जो आत्मा का अविकार स्वभाव, ज्ञानस्वभाव है उसकी दृष्टि मे ही सयत रहना सो उत्कृष्ट संयम है। यह संयम मुनिराजों के हुआ करता है। पंच महाव्रत पंच समिति, तीन गुप्ति को जिन्होने अंगीकार किया है उन्हें इस चारित्र के द्वारा निरन्तर ही इस प्रयोजन की सिद्धि होती है, कि वे समस्त प्रकार के विषय कषाय के व्यापारो से पृथक होकर अपने आपके निर्विकार ज्ञायक स्वभाव मे नियत रहते है, इसी का नाम है उत्तम सयम।

यह उत्तम संयम धर्म उन जीवो मे हुआ करता है जिनको अपने आपके यथार्थ स्वरूप का परिचय हुआ करता है। जब तक अपने आपके आत्मस्वरूप का परिचय न होगा तब तक आत्मस्वभाव मे संयत ही कोई क्या रह सकेगा ? तो सर्वप्रथम अपने आपके आत्मस्वरूप का परिचय होना चाहिए। याने यह सयम मिथ्या दृष्टियो के नही हो सकता बल्कि सम्यग्ज्ञानियो को ही हुआ करता है। व्यवहार में ५ महाव्रत धारण करना, ५ समितियों का धारण करना और तीन गुप्तिका धारण करना इसको संयम कहा गया है। जो आश्रव होते है उनका निरोध करना सो सम्वर है और यह संयम का ही एक अग है सम्वर का अर्थ होता है संयम के मार्ग में चलना। निर्विकल्प स्थिति मे रहना इसका नाम है उत्तम सयम।

यह उत्तम सयम धर्म आगम में दो प्रकार का वताया गया है (१) इन्द्रियसंयम जो ५ प्रकार की इन्द्रिया है और छठा मन है उनके विषयों मे पृथक हो जाना याने इन पंचेन्द्रिय के विषयों मे आसक्ति वुद्धि का हट जाना इसे कहते हैं इन्द्रिय संयम। एक एक इन्द्रिय विषय की वात देखो जिन इन्द्रिय सुखों में हम आसक्त

हो रहे हैं, जिनसे अपने को सुखी मान रहे हैं उनमें वस्तुतः सुख कहां है ? वे तो दुःख रूप ही है। इन्द्रिय सुखों को भोगना यह इस जीव का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव है अपने आपमें संयत रहना। अपने आपके वास्तविक आनन्दस्वरूप में बने रहना। इन पंचेन्द्रियों के विषयों में रचे पचे रहने का, उनमें सुख मानने का इस आत्मा में स्वभाव नहीं है। ये पंचेन्द्रिय के विषय तो वस्तुतः इस जीव की बरबादी के ही कारण बने रहे हैं। यदि इन पंचेन्द्रिय के विषयों में कुछ सार होता तो फिर ये चक्रवर्ती तीर्थंकर आदिक महापुरुष इन्हें छोड़कर निर्ग्रन्थता को क्यों स्वीकार करते ?

अरे इन पंचेन्द्रिय के विषयों में क्या सार ढूंढना ? इनमें पड़े हुए ये व्यामुग्ध आसक्त जीव तो कुत्ते की तरह हैं। जैसे कुत्ता हड्डी चबाता है तो उसके मसूड़े फट जाते हैं, उनसे खून निकलने लगता है, उस खून को वह कुत्ता चाटता है तो देखो स्वाद तो लेता है वह अपने ही खून का मगर मानता है कि मुझे इस हड्डी का स्वाद आ रहा है। इसी प्रकार यह भोगों में आसक्त होकर स्वाद तो लेता है अपने ही विकृत ज्ञान का पर मानता है कि मुझे पर पदार्थों से सुख मिला है, इन विषयों भोगों से सुख मिला है। अरे इन्द्रिय-विषय सुख तो असार हैं। ये इस जीवकी बरबादी करने पर ही तुले हुए हैं।

अब एक एक इन्द्रिय विषय में आसक्त होने वाले जीवों की बात देख लो। केवल स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत होकर हाथी जैसा बलिष्ठ जानवर भी शिकारियों के चंगुल में पड़ जाता है और वह हाथी नाना प्रकार के छेदन भेदन आदिक रूप दुःखों को प्राप्त होता है, इसी प्रकार रसना इन्द्रिय के विषय की बात देखो मछली इस रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर ही तो अपने प्राण खो देती है। मछुवे लोग कुछ मांसपिण्ड तार में लगाकर जल में गेर देते हैं, सो मछली उसे निगल जाती है। तो फल क्या होता है कि वह तार मछली के कंठ में फंस जाता है और मछली अपने प्राण खो बैठती है। और भी देखिये घ्राणइन्द्रिय के वशीभूत होकर यह भंवरा कैसे अपने प्राण गवां देता है है कमलपुष्प के अन्दर भंवरा बन्द हो जाता है। देखो यह इतनी ताकत रखता है कि मोटे काठ को भी छेदकर बाहर निकल जाय ऐसा यह भंवरा गंध के लोभ में आकर कमल के कोमल पत्तों के अन्दर बन्द रहकर ही अपने प्राणों को खो बैठता है। चक्षुइन्द्रिय की बात देखो-ये पतिंगे दीपक की

ज्योति में आ आ कर अपने प्राण गवां देते है। तथापि वे और भी दूसरे पतिंगों को मरता हुआ देखते रहते है फिर भी चक्षुइन्द्रिय के वशीभूत होकर वें अपने प्राण खो देते है। अब कर्ण इन्द्रिय की बात देखिये ये हिरण, ये सर्प राग रागनी के प्रेम में आकर शिकारियो के चगुल मे फस जाते है और अपने प्राण खो बैठते हैं। तो जब एक एक इन्द्रिय के वशीभूत हुए प्राणियो की ऐसी दशा हैं तो फिर जो पाँचो इन्द्रियो के वशीभूत हो उनका तो कहना ही क्या है। तो हमे चाहिए कि इन पचेन्द्रिय के विषयो से अत्यन्त दूर होकर अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु की शरण गहे। यही है अपना वास्तविक सयम।

यह इन्द्रिय विषयो की जो बात कही है उसमे हम आप स्वय निरख ले कि किसी एक भी इन्द्रिय के विषय को भोगकर क्या किसी को तृप्ति हुई ? सभी को एसी अनुभव होगा कि इन इन्द्रिय विषयो मे पडकर तो कुछ न कुछ अशो मे पछतावा ही हाथ लगेगा। हा यह बात अवश्य है कि जो अज्ञानी जन है उन्हे कम पछतावा होता है। और जो ज्ञानीजन है उन्हे अधिक पछतावा होता है। एक इस स्पर्शन इन्द्रिय का ही विषय सुख ले ले, इसमे किसी दूसरे के शरीर का स्पर्श कर लेने से, शरीर के कुछ सस्कार बना लेने से इस जीव को लाभ क्या मिलता है ? अरे शक्ति क्षीण होती, भाव स्वय मलिन होते है, अनेक परेशानिया स्वय सामने खडी हो जाती अन्त मे पछतावा ही हाथ लगता। इसी प्रकार कोई मिष्ट सरस स्वादिष्ट भोजन खा लिया तो उससे भी लाभ क्या मिला, बल्कि रोग स्वय अनेक प्रकार के पैदा हो जाते। आज इतनी अधिक मात्रा मे अस्पतालो का खुलना, औषधियो का निर्माण होना इसका कारण असयम ही तो है। आज का प्राणी भक्ष्य अभक्ष्य का कुछ भी विचार नही करता। जिह्वा इन्द्रिय का लम्पटी बना हुआ है, यही कारण है कि इसके शरीर मे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो रहे है। उन रोगो का निवारण करने हेतु औषधियो का विस्तार बढ़ रहा है। तो अपने आचार विचार को बिगाड़ देना यही सारी परेशानियो का कारण भी रहा है। जिन्होने अपने चारित्र को अच्छा नही बनाया जो इन्द्रिय विषयो मे आसक्त हो रहे उनका मनुष्य जीवन पाना न पाना बराबर है। ऐसे ही घ्राणइन्द्रिय के विषय मे देखिये-नाना प्रकार के तेल फुलेल रखना, उनकी गध में आसक्त होना इससे भी इस जीव को क्या लाभ मिलना है। चक्षुइन्द्रिय के विषय की बात ही क्या कहे, सिनेमा वगैरह देखना, अश्लील चित्र देखना, रूपावलोकन करना आदिक इनसे इस जीव को क्या लाभ मिलता

है ? पहिली बात तो यह है कि रूप को देखने के लिए यह लालायित रहा करता है वह रूप कोई पकड़ में आने वाली चीज नहीं व्यर्थ ही उनके प्रति अपने गंदे भाव बनाकर अनेक प्रकार की कलुशित कल्पनायें बनाकर अपने जीवन को बरबाद कर डालते हैं, इसी प्रकार कर्णइन्द्रिय की बात है। राग रागनी भरे गान तान सुनने के लिए कुछ कर्णों को सुहावने लगने वाले शब्द सुन लिए, कुछ अश्लील शब्द सुन लिये तो उससे भी इस जीवको लाभ क्या मिलता है ? अरे वहां भी कषाय भाव चलता, आकुलता रहती और नाना प्रकार की व्याकुलतायें बनती हैं। तो ऐसा जानकर हमें इन्द्रिय विजयी होना चाहिए और संयम को धारण करना चाहिए।

एक दृष्टान्त है कि कोई एक राजा था, उसने अपने बल से पास पड़ोस के समस्त राजाओं पर विजय प्राप्त कर लिया था इसलिए सभी लोग उसे सर्वजीत कहने लगे। सभी लोग तो उसे सर्वजीत कहें, पर उसकी मां उसे सर्वजीत नहीं कहती थी। तो एक दिन उस राजा ने अपनी मां से कहा कि मां, मुझे सभी लोग तो सर्वजीत कहते हैं, पर तुम क्यों नहीं कहती ? तो मां बोली, बेटा-अभी तुम सर्वजीत नहीं हुये इसलिए मैं तुम्हें सर्वजीत नहीं कहती।-अरे मैंने तो समस्त राजाओं को जीत लिया है, बताओ कौन सा राजा अभी जीतने को बाकी है ? तो मां बोली बेटा-तुमने सब राजाओं को तो जीत लिया है पर तुम्हारे ही अन्दर यह जो इन्द्रिय विषयाभिलाषा रूप शत्रु छिपा हुआ बैठा है इसको अभी तक नहीं जीत पाया। जब इसको भी तुम जीत लोगे तब मैं तुम्हें सर्वजीत कहूंगी। तो इन इन्द्रिय विषयों पर विजय करना यही सबसे बड़ी विजय है।

अब इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए क्या करना होगा इसकी बात कहते हैं। देखिये इन्द्रिय विषयों के भोग के प्रसंग में तीन बातें हुआ करती हैं। (१) द्रव्येन्द्रिय (२) भावेन्द्रिय (३) विषयभूत पदार्थ। तो द्रव्येन्द्रियां तो ये जड़ हैं, मूर्तिक हैं, पुद्गलरूप हैं, इन द्रव्येन्द्रियों से पृथक रहने का इस आत्माका स्वभाव है इस प्रकार भावेन्द्रिय के विषय में सोचिये-ये भावेन्द्रिय तो खण्डज्ञान हैं। जिस समय जो ज्ञान करना है उस समय केवल उसका ही ज्ञान इस भावेन्द्रिय द्वारा हो सकता है। अतः यह खण्डज्ञान है। आत्मा का स्वभाव तो अखण्ड ज्ञान है। तो इस प्रकार भावेन्द्रिय भी इस आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा है अखण्ड

स्वभावी, अतः ये आत्मा का स्वरूप नही हैं। अब आइये इन विषयभूत पदार्थों पर। ये दिखने वाले विषय भूत पदार्थ तो प्रत्यक्ष जड़ है, संग हैं, पुद्गलरूप है, और आत्मा तो निसंग, अमूर्त ज्ञानानन्द स्वभावी है। तो फिर उस आत्मा का इन पदार्थो से संबन्ध क्या ? तो इन्द्रिय विजयी बनने के लिए इन तीनों प्रकार की (द्रव्येन्द्रियां भावेन्द्रिया और विषयभूत पदार्थ) बातों पर विजय प्राप्त करना होगा। बिना इन समस्त बातो पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त किये कोई जितेन्द्रिय नहीं बन सकता। भगवान जिनेन्द्र देव ने अपने दिव्य उपदेश में ऐसा बताया है कि इन्द्रिय विजयी बनने के लिए सर्व प्रथम इन इन्द्रियो का और आत्मा के यथार्थ स्वरुप का परिचय करना होगा।

अब आइये इस मन के विषय पर। यह मन समस्त इन्द्रियो का राजा है। जितने भी पचेन्द्रिय के सिवाय अनरग के विषय बताये है वे सब मन के विषय है। किसी भी इन्द्रिय के विषय का वर्तन करना, अभिलाषाये करना, यह है मन इन्द्रिय का काम, और इन अभिलाषाओ का त्याग करना यही है सयम। अगर कोई इन्द्रियो का वाह्य प्रवर्तन हो तो छोड़ दे और अतरग इन्द्रिय प्रवर्तन को न छोड़े तो यह सयम नही है। यह तो पाखण्ड है। उसने तो वस्तुत अपने आत्मा को ही ठगा है। वह कोई सयम नही है। अपना वास्तविक सयम है अपने आप की अतरग इच्छाओं का (अभिलाषाओ का) अभाव करना, अपने अन्दर की अभिलाषओ का त्याग करने के लिए अपने आपके अन्दर विराजमान उस शुद्ध अतस्तत्व के दर्शन करने होगे। उस आत्मतत्व का दर्शन होगा इन्द्रिय विजयी बनने से। क्योकि जब तक विषय भोगो की वात पड़ी रहेगी तब तक वहां विकल्पों से शान्ति कहाँ मिलेगी ? और वहा अपने आपके अन्दर विराजमान उस परमात्मा के दर्शन कहा से होंगे। तो परमतत्वका दर्शन पाने के लिए निर्विकल्प स्थिति चाहिए। हम ऐसा सकल्प बनावे कि हमे तो कुछ नही स्पर्श करना है, कुछ नहीं आस्वादना है, कुछ नही सूँघना है रूपादिक का कुछ नही अवलोकन करना है। हमे नही किसी के राग रागनी के शब्द सुनना है हमे नही किसी प्रकार के मिथ्या सकल्प विकल्प विचारो मे पड़ना है। यो दृढ सकल्प करके एक आत्म स्वभाव के (निज परमात्म तत्व के) दर्शन करने का ही आग्रह कर लेवें तब कही उसके दर्शन कर सकेंगे। इस प्रकार निज परमात्म तत्व का दर्शन करना यही है वास्तविक संयम।

अब प्राणि संयम की बात देखिये-जो ६ प्रकार के काय हैं-पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इनको किसी प्रकार की बाधा न पहुंचाना, इनके दस प्राणों का घात न करना इसे कहते प्राणि संयम। किन्हीं घर के दो चार मोही प्राणियों की रक्षा के पीछे अन्य दूसरे जीवों का कुछ भी ख्याल न करना, बल्कि उनका अहित ही विचारना यह तो एक राक्षस पने का व्यवहार है। यह मनुष्यता का व्यवहार नहीं है। तो ऐसे कार्य करें जिनसे दूसरे जीवों को बाधा न पहुंचे तो इसे कहते हैं प्राणिसंयम।

अब देखिये इस संयम की पात्रता कहां मिलती है ? क्या नरकगति में संयम की पात्रता होगी ? क्या तिर्यन्चगति में व देव गति में भी संयम की पात्रता होगी? अरे केवल एक मनुष्यभव ही ऐसा श्रेष्ठ भव है जहाँ संयम धारण कर सकते है। इस मन के द्वारा अपने श्रेष्ठ विचार बना सकते हैं। तो इस मनुष्यभव में ही ऐसी पात्रता है कि यहां संयम धारण कर सकें इसलिए तो देव भी इस मनुष्यत्व को पाने के लिए मनुष्यों के सामने हाथ पसारते है। देखिये-जब ऋषभदेव भगवान को संसार शरीर भोगो से वैराग्य हुआ, तपके लिए उद्यमी हुए तो उस समय चारों प्रकार के देव आते है उनका तप कल्याणक मनाने के लिए। वहां पर मनुष्य भी आये थे। तो देवो ने बड़ा उत्सव मनाया, पर जब उन्हें पालकी में बिठाकर तपोवन मे ले जाने का समय आया तो यह प्रश्न खड़ा हो गया कि इस पालकी को उठाने का सर्वप्रथम अधिकारी कौन है ? देव है या मनुष्य ? देव कहते हैं कि पालकी उठाने के अधिकारी हम हैं क्यो कि हमने ही गर्भकल्याणक मनाया, हमने ही जन्मकल्याणक मनाया, अस्तु हम ही तपकल्याणक मनाने के अधिकारी हैं। उधर मनुष्य अपने पक्ष की बात रखते हुए कह रहे थे इस पालकी को उठानें के अधिकारी हम लोग हैं। जब दोनों में विवाद सा होने लगा तो आखिर अन्त में इसके निर्णय के लिए राजा नाभिराय नियुक्त किये गये। सो राजा नाभिराय ने दोनो पक्षों की बाते सुनकर निर्णय दिया कि इस पालकी को उठाने का सर्वप्रथम अधिकारी वही हो सकता है जो इन (प्रभु) जैसा संयम धारण कर सके। तो मनुष्यों को ही सर्वप्रथम पालकी उठाने का निर्णय दिया गया। अब उस समय वे इन्द्र, देवेन्द्र अपना माथा ठोककर और मनुष्यों के सामने अपनी झोली पसारकर भीख मांगते हैं कि ये मनुष्यों तुम मेरा समस्त इन्द्रत्व ले लो पर हमें अपना यह मनुष्यत्व क्षण भर के लिए दे दो। तो ऐसे इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर इन विषयों की खोज खुजाने में

ही व्यर्थ समय गंवाना यह तो कोई भली बात नहीं है। अरे इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर तो सयम धारण में ही (अपने चारित्र निर्माण करने में ही) अपनी भलाई है। यदि इस मानव जीवन को पाकर संयम धरण न किया तो इससे मनुष्य जीवन की सार्थकता न समझिये।

अपना वास्तविक संयम तो है अपने स्वरूप का आचरण करना और इस स्वरूप का आचरण करने के लिए बाह्य आचरण (व्यवहार चारित्र) किस प्रकार का होना चाहिए ? अपना विशुद्ध आचरण होना चाहिए। इस जीवन में यदि चारित्र है तो इससे ही जीवन की सफलता है और यदि विशुद्ध चारित्र नही है, अपना असदाचार का व्यवहार है तो फिर मनुष्य होना न होना बराबर है अंग्रेजी में एक कवि ने कहा है कि "If Wealth is lost nothing islost. If health is lost some thing is lost If character is lost, all is lost." अर्थात् यदि धन नष्ट हुआ तो कुछ नष्ट नही हुआ, स्वास्थ्य नष्ट हुआ तो कुछ नष्ट हुआ, और यदि चारित्र नष्ट हो गया तो सब कुछ नष्ट हो गया। तो विशुद्ध चारित्रमय जीवन ही एक जीवन है। इसलिए हमें इस सयम को अंगीकार करके अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को सफल करना चाहिए। देखे पूजन में पढ़ते है ना कि–

इन्द्रिय के भोग मधुर विषसम लावण्यमयी कंचन काया।
यह सब कुछ जड़की क्रीड़ा है, मैं अब तक जान नहीं पाया॥
मैं भूल स्वयंके वैभव को, पर ममता में अटकाया हूं।
अब निर्मल सम्यक् नीर लिए, मिथ्या मल धोने आया हूं॥

और भी पढ़ते है कि :–

भव वन में जी भर घूम चुका, कण कण को जी भर भर देखा।
मृगसम मृगतृष्णा के पीछे, मुझ को न मिली सुख की रेखा॥

अब बतलाओ बोलते तो इस तरह हैं और विचार करते हैं इन पुद्गलों के ही भोगने का, उनका ही संचय करने का, इन्द्रिय विषयों के सेवन का तो क्या यह सयम पालन है ? अरे जो कुछ बोला है वैसा ही विशुद्ध आशय बने कि मेरा यह भववन में भटकना कब छूटे। इन्द्रियविषयो से परान्मुखता कब होवे।

अरे यहाँ का यह पौद्गलिक विषय भोगों का समागम तो जहरीले सर्प के विष से भी अधिक भयंकर है। यहां तो जहरीले सर्प ने अगर काट लिया तो एक बार

ही मरण होता है, परन्तु इन्द्रिय विषयों के चंगुल में यदि फंसे रहेंगे तो भवभव में जन्म मरण के घोर संकट सहन करने पड़ेगे। अतः हम आपको इन्द्रिय विषयों से डरना चाहिए और संयम को अपने जीवन में धारण करना चाहिए। देखिये यहां अनेक दृष्टान्त दिये गये, इनसे हमें यह शिक्षा लेना चाहिए कि इन इन्द्रिय विषयों से कभी भी तृप्ति नहीं होती। जैसे बाजीगर (जादूगर) लोग कुछ छू मन्तर करके आपको लड्डू या कोई फल वगैरह बनाकर दिखा देते हैं अथवा कुछ रूपया पैसा बनाकर दिखाते हैं, तो कहीं उन चीजों का कुछ उपयोग तो नहीं किया जा सकता अथवा उनसे पेट तो नहीं भरा जा सकता। इस प्रकार इन इन्द्रिय विषयों मे पड़कर आत्मा को शान्ति नही प्राप्त हो सकती।

वस्तुत. तो आत्मा को शान्ती प्राप्त होगी इन समस्त प्रकार के इन्द्रिय विषयों से हटकर अपने आपके स्वभाव में आने से अथवा जैसे कोई व्यक्ति विदेश गया, वहा लाखो का धन कमा लिया, जब वहां से अपने घर के लिए वापिस लौटा तो घर पहुचने को ही हुआ कि रास्ते में उसका सारा धन लुट गया, इससे कुछ लाभ न प्राप्त किया जा सका, इसी प्रकार इन्द्रियविषयों के ये सुख हैं। इनके पीछे अपना समय खोने से लाभ कुछ न लूटा जा सकेगा। तभी तो ज्ञानी पुरुषो ने इन्द्रिय विषयों की अभिलाषा को त्यागकर अपने आत्म-स्वभाव की शरण ली। देखिये-जब भगवान नेमिनाथ ने बताया कि यह द्वारिकापुरी १२ वर्ष के बाद में भस्म हो जायेगी तो इस समय कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न कहता है अपने पिता से व दादा बसुदेव से कि हम अब संयम धारण करेंगे, विरक्त होकर अपना कल्याण करेंगे, तो वे समझाते है कि अरे बेटा तुम पागल हो गये हो क्या ? अभी तुम्हारी विरक्त होने वाली उमर नही है। तो प्रद्युम्न कहता है कि तुम्हे अगर जगत का खम्भा बनकर रहना है तो रहो, हम तो विरक्त होंगे ही। तो वह प्रद्युम्न अपनी स्त्री से यह कहने के लिए गया कि हम तो अब विरक्त हो रहे हैं, संयम का मार्ग अपनायेंगे। तो स्त्री कहने लगी कि अभी आपको विरक्ति जगी ही कहां है ? अरे यदि आप विरक्त होते तो हमसे कहने की क्या जरूरत थी ? आप तो विरक्त हो अथवा नहीं मैं तो चली। ऐसा कहकर तुरन्त विरक्त होकर उसने चल दिया। तो यहां किसके पीछे भटका जा रहा है ? किनके लिए अपना प्रताप, अपनी शान बतायी जा रही है ? यहां के इन पर सम्पर्कों को तोड़ो, यहां के इन वैषयिक इन्द्रियज सुखों को छोड़ों तो अपने उस सहज आनन्द की (अतीन्द्रिय सुख की) प्राप्ति हो सकेगी।

जैसे एक दृष्टान्त आया है कि दो चींटियां थीं, उनमें से एक चींटी तो रहती थी शक्कर की दूकान में और एक चींटी रहती थी नमक की खान में। तो एक बार शक्कर की दूकान में रहने वाली चींटी नमक की खान की चींटी के पास गई, बोली बहिन तुम यहा क्यों रोज रोज खारा खाना खाती हो ? हमारे साथ चलो जहा हम रोज रोज बढ़िया स्वादिष्ट मीठा खाना खाते हैं। तुम भी वहां चलकर मीठा खाना खाओ। तो पहिले तो विश्वास ही न हुआ। पर बड़े प्रेरणा करने पर उसने वहा जाना स्वीकार कर लिया। चली तो सही पर अपने को कलेवा के लिए नमक की डली अपनी चोंच में दबाकर चली। जब वहां पहुंची और कुछ शक्कर के दाने खाये तो सखी पूछती है कि क्यों बहिन तुम्हें बढ़िया मीठा स्वाद आया ना ? —न, मुझे तो कोई स्वाद नही आया, ज्यो का ज्यों स्वाद है :—अरे मुख मे कोई चीज रखे तो नहीं हो ? —हां एक दिन का कलेवा रखे हैं। —अरे इस कलेवा को मुख से निकाल कर अलग रख दे तब स्वाद ले, फिर देख मीठा स्वाद आता है कि नहीं। जब उस नमक की डली को मुख से निकालकर अलग रखा और शक्कर के दानों को चखा तो उसे एक अनुपम स्वाद मिला, तो इसी प्रकार ये संसारी प्राणी इस अपने उपयोग की चोच में जब तक विषय भोग रूपी नमक की डली लिये रहेगे तब तक इन्हे अपने ही अन्दर विराजमान अनन्त आनन्दरस की प्राप्ति नहीं हो सकती। अरे इन्द्रिय विषयों मे लम्पटी जीवों को तो गुरुजनों का धर्म उपदेश भी नही रुचता, इसलिए प्रत्येक कल्याणार्थी को सर्वप्रथम इन इन्द्रिय विषय कषायों रूपी नमक की डली को अपने उपयोग रूपी चोंच से निकाल देना होगा तभी धर्मोपदेश रुचेगा और अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो सकेगी।

विषयासक्त जीवों की कैसी कैसी दुर्दशाये होती हैं इस बात के स्पष्टीकरण के लिए एक प्रसिद्ध दृष्टान्त देखिये-जिस समय बड़े वर्णीजी (श्रीगणेशप्रसाद जी वर्णी) बनारस में पढ़ते थे तो उनसे एक दिन उनके ही किसी मित्र ने कहा कि चलो नाटक देखने चलें। तो वर्णीजी बोले कि हम तो नहीं जायेंगे, क्योंकि तुम तो दो रूपये की सीट पर बैठोगे और हम चार आने का टिकट लेकर कहां बैठेंगे ? तो मित्र ने कहा कि ऐसा न होगा। जहा हम बैठेंगे वही तुमको बिठालेगे, तो बड़ा आग्रह करने पर वर्णीजी भी नाटक देखने गये वहाँ क्या घटना घटी कि स्टेज पर काम करने वाली कोई नर्तकी बड़ा अच्छा नृत्य कर रही थी। तो उस पर कोई

एक विषयासक्त दर्शक मोहित हो गया, और एक पर्चे पर अपनी ओर से कुछ लिखकर स्टेज पर उस नर्तकी को दे दिया। नर्तकी को दे दिया। नर्तकी ने उसे पढ़कर पैरों से कुचल कुचल कर बाहर फेंक दिया। तो उस पुरुष ने अपना अनादर समझकर अपने ही हाथों से अपनी ही चाकू द्वारा अपना आत्मघात कर लिया तो देखिये-विषयासक्त पुरुषों की यही दशा होती है। इन विषय सुखों के पीछे लोग आत्मघात तक कर डालते हैं। अतः इन इन्द्रिय विषयों की आसक्ति से अपना मुख मोड़ें और अपने आपके निर्विकार, निर्विषय आत्म तत्व के दर्शन करके सहज संयम धर्म को पालें, और अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को सफल करें।

इस जीवन में यदि अपने को अच्छा बनना है तो जीवन में संयम का प्रादुर्भाव होना चाहिए। इन वासनाओ रूपी घोड़े को शान्त करने के लिए लगाम की आवश्यकता है नही तो ये उच्छृंखल वासनाओं के घोड़े इस जीव को महागर्त में पटक देंगे। इन विषयों की उधेड़बुन में रहकर विषयों की खोज का खुजैला बनकर अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ में गवां देना कोई बुद्धिमानी नहीं है। अतः इन विषयो की प्रवृत्ति से हटकर अपने आपके ज्ञान प्रकाश में आयें, इस विषयों के खुजैले भोले प्राणो का शान्तिनगर में प्रवेश तभी हो सकता है जब इसकी यह विषयों की खाज मिटे, नहीं तो यह विषयों की खाज इस संसार का परिभ्रमण ही कराती रहेगी।

आत्मानुशासन में एक जगह एक दृष्टान्त आया है कि कोई पुरुष तृषा से अत्यन्त पीड़ित था। उसे कहीं जल नही मिल रहा था। तो अपनी प्यास बुझाने के लिए वह कुंवा खोदने को उधमी हो गया। जब खोदते खोदते काफी गहराई पर पहुंच गया तो नीचे पत्थर की शिला पड़ गई अब क्या करे बेचारा ? बड़ा परेशान हुआ। जैसे तैसे बड़ा श्रम करके उस शिला को भी खतम कर दिया तो नीचे जाकर कुछ पानी दिखा, पर वह भी कैसा ? महा गंदा और कीड़ों से भरा हुआ खारा। अब वह उस पानी को पी भी न पाया कि शीघ्र ही सूख गया। वह बेचारा बड़ा श्रम करके भी अपनी तृषा को न बुझा सका। ठीक ऐसी ही हालत तो इन विषय सुखों की है। विषयों का यह अभिलाषी जीव वासना की वेदना से पीड़ित होकर विषय भोगों के साधन जुटाता है। प्रथम तो उन साधनों के जुटाने में वह बड़ा हैरान हो जाता है। जब किसी तरह से वे भोग साधन जुटे तो बीच में कोई

न कोई समस्या आकर खड़ी हो जाती है जिससे यह उन वैषयिक सुखों को भोग नहीं पाता, और श्रम करते करते जब शिथिल हो जाता है (वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है) तो वहां भी उन भोगों को भोगने की असमर्थता हो जाती है। यों यह विषयों का अभिलाषी प्राणी उनके ही पीछे हैरान होकर अपना जीवन समाप्त कर देता है। तो ऐसे दृष्टान्तों को सुनकर हम आप इन इन्द्रियसुखों से विराम लें, इस संयम धर्म को अंगीकार करें, इसी मे जीवन की शोभा है।

एक स्त्री अपने पति, सास स्वसुर आदिक सबकी बड़ी आज्ञाकारिणी थी। उसके मन में यह रहा करता था कि हम ऐसे उपाय करें कि घर के सभी लोग धर्म साधना मे रहें ताकि जीवन सफल हो। तो वह तो थी धार्मिक प्रकृति की, पर उसका पति था भौतिकवादी। वह धर्म कार्य को ढोंग ढकोसला समझता था। अपने पति से वह स्त्री रोज रोज कहा करती थी कि देखो अपने जीवन की सफलता के लिए धर्म पालन के कार्यो मे चित्त देवो। वह पुरुष यही उत्तर देता था कि अभी तो बहुत दिन पड़े है, आगे चलकर धर्म पालन मे लगेंगे। तो एक बार क्या कि उस स्त्री का वह पति बीमार हो गया, डाक्टर की दवा पीने का समय होने पर वह पुरुष अपनी स्त्री से कहता है कि लाओ जल्दी दवा, देर क्यों कर रही हो ? तो स्त्री कहती है कि अभी कुछ देर में दे देंगे, ऐसी जल्दी क्या पड़ी है दवा पीने की ? अभी तो बहुत दिन बाकी है। तो पति बोला-तो क्या जब मर जायेंगे तब दवा दोगी ? तो वह स्त्री बोली कि ठीक यही बात तो तुम्हारे लिए हमारी है। हम कहते है कि इस जीवन का कोई भरोसा नहीं, धर्म पालन में लग जाओ, तो तुम कहते हो कि ऐसी जल्दी क्या पड़ी है, आगे चलकर धर्म पाल लेंगे। अरे तुम तो अभी से धर्म पालन करने में अपना चित्त दो। आगे पालने की बात न विचारो। अस्तु ऐसा जानकर कि इस जीवन का कोई भरोसा नहीं है, शीघ्र ही विषय भोगों से अपना चित्त हटाना चाहिए क्योंकि इनकी आसक्ति का फल जीवन की बरबादी ही है। इससे इसको छोड़ें और संयम धर्म को अंगीकार करे।

अरे इन देहों में क्या सार ढूंढ़ा जा रहा है ? जरा इस विषय में भी थोड़ा विचार करो। यह शरीर तो मल मूत्र, खून, मज्जा, हड्डी, पीप, नाक, थूक, कफ, खकार,चाम आदिक समस्त अपवित्र चीजों से निर्मित है। इसमें क्या सार रखा है ? ऐसे इन महा अपवित्र देहों में क्या रमना ? इनके भोगों में पड़कर अपने

जीवन को क्या बरबाद करना ? अरे इन शारीरिक इन्द्रिय, वैषयिक सुखों में रत न करें, इनसे पृथक होकर अपने आपके आत्म स्वभाव की ओर झुकें, इससे ही अपना वास्तविक संयम धर्म प्रकट होता है। बाह्य में अपना उपयोग लगाने से संयम धर्मकी प्रकटता न होकर विराधना होती है। जिन जीवों ने बाह्य पदार्थों के पीछे ही अपने जीवन को गंवा दिया उनका तो जीवन ही विफल है।

एक कवि ने कहा है कि कोई एक विषयासक्त पुरुष एक जंगल में मर गया। तो उस मुर्दे को खाने के लिए एक श्रगाल आया, एक कुत्ता भी वहां पर था। तो वह श्रगाल जैसे ही मुर्दा के पैर खाने को हुआ तो कुत्ता बोला -ए श्रगाल, तू इस मनुष्य के पैरों को मत खा। ये तेरे खाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इन पैरों ने कभी तीर्थ यात्रा नहीं की, धर्मार्थ अपने कदम नहीं बढ़ाये। ये कभी सत्संगति में नहीं गये, इसलिए ये तो महा अपवित्र हैं, सो तू इन पैरों को मत छू। जब श्रगाल हाथ खाने को तत्पर हुआ तो कुत्ता बोला ऐ श्रगाल तू इन हाथों को मत खा, ये तेरे खाने योग्य नहीं है, क्योंकि इन हाथों ने कभी दान नहीं दिया, परोपकार नहीं किया। श्रगाल पेट खाने को उद्यत हुआ तो फिर कुत्ता बोला-रे श्रगाल यह पेट तो अत्यन्त अपवित्र है। इसकी ओर तू देख भी मत, क्योंकि इसने सदा अन्याय, अनीति, अत्याचार आदि करके अपना पेट भरा है। जब श्रगाल मस्तिष्क को खाने को उद्यत हुआ तो फिर कुत्ता बोला–रे श्रगाल, यह मस्तिष्क भी तेरे खाने योग्य नहीं इसको तू मत छू इस मस्तिष्क ने कभी दूसरों का भला नहीं विचारा, कभी अपने धार्मिक प्रोग्राम नहीं बनाया, सदा दूसरों का अनर्थ करने योग्य विकल्प ही मचाता रहा। तो इस दृष्टान्त द्वारा यह शिक्षा लें कि ये इन्द्रियां मिली हैं सौभाग्य से तो इनको पाने की सार्थकता तो इसमें है कि इनका सदुपयोग कर लें, न कि दुरुपयोग। स्पर्शन इन्द्रिय का लम्पटी बन जाना यही तो इस स्पर्शन इन्द्रिय का दुरुपयोग है। इसी प्रकार रसना इन्द्रिय के वशीभूत होना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र आदिक समस्त इन्द्रियों के वशीभूत होकर अपने जीवन को खो देना यही तो इन इन्द्रियों का दुरुपयोग है इससे तो इस जीव की बरबादी ही है।

यदि जीवन में संयम नहीं है तो फिर इस जीवन की शोभा ही क्या है। जिन जीवों का जीवन असंयम ही असंयम में व्यतीत हो रहा है उसने इस मनुष्य जन्म को पाने का क्या लाभ लिया तथा आगे उनकी क्या गति होगी सो कुछ कहा नहीं जा सकता। एक दृष्टान्त है कि कोई एक राजा था, उसके बगीचे में बड़े सुन्दर

सुगंधित फूल भी हुआ करते थे। राजा का नौकर सुगधित पुष्प से सजी हुई सेज राजा के लिए प्रतिदिन लगाया करता था। बड़ा कोमल सेज था। जब बहुत दिन इस सेज को सजाते हुए हो गया, तो एक दिन इस नौकर के मन में आया कि इस सेज पर लेटने से कितना आराम मिलता होगा कुछ पता नहीं सोचा कि हमें बीसों वर्ष हो गये इस सेज को लगाते हुए, पर यह अनुभव करना चाहता था, लेटा,दो ही मिनट में निद्रा आ गयी, सो गया। अब राजा के आने का समय हुआ, आया तो अपने नौकर को उस सेज पर सोता हुआ पाया। बड़ा क्रोधित हुआ, नौकर को जगाया और बैतो से बड़ी पिटाई की। तो ज्यो ज्यों ही राजा उसे मारता जाता था त्यो त्योही उसका हंसना बढ़ता जाता था। खूब हस रहा था। तो राजा ने पूछा-अरे तू पिटने पर भी हंसता क्यो है? तो नौकर बोला-महाराज मै इसलिए हस रहा हूं कि मै इस सेज पर १०-५ मिनट को लेट गया तब तो मै इतना पिटा, और आपकी जिन्दगी बीत गई इस सेज पर लेटते हुए तो न जाने आपको कितना पिटना पड़ेगा। तो इसी तरह इन इन्द्रिय विषयो का समागम समझिये-जितना जितना इन इन्द्रिय विषयो के समागमो मे हमारा रहना बना रहेगा उतना ही अधिक हमें पिटना पड़ेगा। तो इन इन्द्रिय विषयो को त्यागकर सत्य संयम धर्मको धारण करे, यही सारभूत बात है।

आज सौभाग्य से हम आपको सभी चीजे अच्छी मिली हुई है, शरीर भी समर्थ है, निरोग है, इन्द्रिया भी परिपूर्ण है, सारे साधन भी अच्छे मिले हुए हैं, ऐसे उत्तम अवसर मे अपने कल्याण का काम कर जावे तब तो ये सब चीजे पाना सार्थक है, अन्यथा तो बाद मे पछतावा ही हाथ लगेगा। एक किम्बदती है कि एक बार ब्रह्मा ने चार जीव बनाये—कुत्ता, गधा, मनुष्य और उल्लू। तो सबसे पहिले कुत्ते को बुलाकर कहा जावो तुम्हे पैदा किया-महाराज काम क्या होगा? -आप दूसरो की सेवा मे, दासता मे रहना, और जो भी कौर (रोटीके टुकड़े) मिल जायें उन्हें खाकर संतुष्ट रहना।—अरे महाराज यह तो बड़ा बुरा जीवन है। उम्र कितनी होगी ?-४० वर्ष।—महाराज उम्र तो अधिक दे दी, सो कुछ कम कर दो।—अच्छा चलो २० वर्ष ही रख दिया। २० वर्ष काटकर अपनी तिजोरी में रख लिया। अब गधे को बुलाकर कहा जाओ तुम्हें पैदा किया।—महाराज काम क्या होगा — अरे दूसरो का बोझा ढोना और रूखा सूखा जो भी मिल जाये खाकर सन्तुष्ट रहना।—महाराज काम तो बड़ा बुरा दिया। उम्र कितनी होगी?—४० वर्ष।—

महाराज उम्र तो बहुत अधिक दे दिया । कुछ तो कम कर दो । -अच्छा २० वर्ष ही रख दिया । २० वर्ष काट कर तिजोरी में रख लिया उल्लू को बुलाकर कहा - जाओ तुम्हें पैदा किया ।—महाराज काम क्या होगा ?-अरे अंधे बने बैठे रहना, और कभी कुछ खाने को मिल जाय तो खा लेना ।—महाराज काम तो बड़ा बुरा दिया । उम्र कितनी है । ४० वर्ष ।—महाराज उम्र कुछ कम कर दो ।—अच्छा चलो २० वर्ष ही रखा । २० वर्ष काट कर तिजोरी मे रख लिया । अब आया मनुष्य का नम्बर, सो मनुष्य से कहा जाओ तुम्हें पैदा किया ।—महाराज काम क्या होगा ?—अरे मन चाहे मौज करना, खेलना, शादी करना, बच्चे पैदा करना, सब पर शासन करना सुख चैन से रहना ।—महाराज उम्र क्या होगी ? ४० वर्ष । --उम्र तो बहुत कम है, कुछ और बढा दीजिये । तो तिजोरी मे रखी हुई आयु (याने ६० वर्ष आयु) और दे दिया । तो मनुष्य को १०० वर्ष की आयु मिल गयी । अब देखिये-मनुष्य की जो ४० वर्ष की आयु थी वह तो ईमानदारी की आयु है । सो इस मनुष्य का ४० वर्ष का जीवन तो बड़ी अच्छी तरह से बीतता है । उसके बाद २० वर्ष की उधार ली हुई गधे वाली आयु आती है, सो जैसे गधा दूसरो की दासता करके जो भी रुखा सूखा मिल जाता है खाकर सतुष्ट रहता, यत्र तत्र वोझा ढोता फिरता, ठीक यही हाल मनुष्य का रहता है । इधर उधर की दौड़ धूप करना, दूसरो की ही सेवा मे लगे रहना और समय बेसमय जो भी जल्दी जल्दी मे खाने को मिल गया सो खा लिया फिर भगे । इस तरह से ६० वर्ष तक का जीवन जाता है, इसके बाद ६० वर्ष से लेकर ८० वर्ष तक रही कुत्ते की आयु, तो देख लीजिये-कुत्ता जैसे घर की रखवाली करता रहता है और मालिक जो कुछ दे दे । वह खा लेता है ऐसे ही यह मनुष्य भी इस उमर मे खाट पर पड़ा हुआ घर की रखवाली करता है, दूसरो के द्वारा अनेक प्रकार के वचनो की मार भी सहता रहता है और खाने पीने को भी मौके बेमौके जो कुछ रूखा सूखा मिल जाता है वह खाकर सन्तुष्ट रहता है । इसके बाद आ गई उल्लू की आयु (याने ८० वर्ष से लेकर १०० वर्ष तक की आयु) सो देख लीजिये जैसे उल्लू अंधा पड़ा रहता है, उसे कुछ दिखता नही है । कभी कुछ खाने को पा गया तो खाकर सन्तुष्ट रहता है, ठीक इसी प्रकार यह मनुष्य इस उम्र मे पूर्ण वृद्ध हो जाता है । शरीर के समस्त आगोपाग शिथिल हो जाते है । चल फिर भी नही सकता खाट पर पड़ा रहता है । नेत्रों से भी नही दीखता, कभी कुछ खाने को घर वाले ने पूछ लिया तो जो भी मिल गया वह खाकर संतुष्ट रहता है, और अन्त में मरण को प्राप्त हो जाता

है। तो इस दृष्टान्त से अपने लिए यहां यह परखना है कि ऐसे दुर्लभ मानव जीवन को विषयों में पड़कर क्यों व्यर्थ गंवाया जा रहा है अरे ? आज अपन को सब चीजें ठीक ठीक मिली हुई हैं, सब प्रकार से समर्थ हैं ऐसी समर्थता पाकर इस उत्तम संयम धर्म को धारण करना चाहिए, नहीं तो अन्त में पछतावा ही हाथ लगेगा। तब ही तो दौलतराम जी ने छह ढाला में कहा है कि :–

बालपने में ज्ञान न लहो, तरुण समय तरुणी रत रहो।
अर्द्धमृतक सम बूढ़ा पनो, कैसे रूप लखे आपनो॥

इसी को वर्णी जी (श्री गणेशप्रसाद जी) इस तरह से कहा करते थे :–

बालपने में ज्ञान न लहो, तरुण समय तरुणी रत रहो।
अर्द्धमृतक सम बूढ़ा पनो, अब तो रूप लखे आपनो॥

संयम के धारण करने से समस्त लोक में यह जीव बंदने योग्य होता है। पापों से लिप्त नहीं होता। सम्यग्दर्शन की पुष्टि इस संयम होने पर होती है तथा इस लोक और परलोक में अचिन्त्य महिमा प्रकट होती है। संसाररूप विषय वैरी का नाश संयम धारण करने से ही होता है। संयम बिना जीवन निष्फल है। अस्तु संयम बिना मनुष्य जीवन की एक घड़ी भी मत जाओ। मनुष्य गति में ही संयम की पात्रता है। अस्तु संयम को पाकर बिगाड़ना महा मूढ़ता है। संयम ही आत्मा का हित है। इह भव और परभव में शरण है। जैसा कि पूजन में पढ़ते हैं।

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्रियमन वश करो।
संयम रतन सम्हाल, विषय चोर बहु फिरत हैं।
उत्तम संयम गहु मन मेरे, भव भवके भाजें अघ तेरे।
सुरग नरक पशु गति में नांही, आलस हरण करन सुख ठांही।
ठांही पृथ्वी जल आग मारुत, रूख त्रस करुणा धरो।
सपरसन रसना घ्राण नैना, कान मन सब वश करो॥
जिस बिना नहीं जिनराज सीझे, तूं रुलो जग कीच में।
इक घरी मत बिसरो करो नित, आयु यम मुख बीच में॥

(ॐ ह्रीं श्री उत्तम संयम धर्मांगाय नमः)

उत्तम तप

आज तप धर्म का दिन है। तप का नाम सुनकर ही लोगों को भय सा होता है। अरे शरीर को सुखा डालना, शरीर को कष्ट देना, इसमें क्या बुद्धिमानी है ? ऐसी कुछ आशका सी लोगो को हुआ करती है, पर वास्तविक विधि में यदि हम तप को समझे तो यह बात विदित होगी कि तप से क्लेश नहीं होता, बल्कि आनन्द, शान्ति और उल्लास प्राप्त होता है। बात यह है कि तप में दो प्रकार की क्रियाये हुआ करती है। (१) आन्तरिक क्रिया, (२) बहिरंग क्रिया। आन्तरिक क्रिया कहते है अपने उपयोग को, चैतन्य स्वरूप के प्रति झुकाने को। विकल्प विचार इच्छा आदि अतरग मलीनताओ को खतम करना सो अतरंग क्रिया है। अपने आपके सत्य स्वरूप मे स्थित हो जाना इसका नाम है उत्तम तप धर्म। जहा इस आन्तरिक क्रिया पर दृष्टि होगी वहा क्लेश नहीं हो सकता। यहां तो आनन्द ही बर्तेगा। लेकिन हम आप तो केवल बाह्य क्रियाओ पर ही ध्यान दिये है इसलिए यह शका हो जाती है कि इतने कठिन तपश्चरण कैसे करते है ? उनको इससे क्या लाभ होता है ? शरीर को सुखाना इसमे तो कष्ट ही होता है। तो उसमें इन बाहरी क्रियाओ पर ही ध्यान रखा। जब यह उपयोग अपने आपके चैतन्य स्वरूप मे प्रतपन करता है, अपने विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी निज आत्म तत्व मे ही उपयुक्त होता है तो यही उत्तम तप है।

ऐसे तप को अंगीकार कर के जीवन मे विशुद्धता आती है। समस्त प्रकार की कलुषताये मिटती हैं। तो अपने उस विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव में स्थिर होना, लीन होना, चैतन्य स्वरूप मे प्रतपन करना, इसी का नाम उत्तम तप है। यह तप उन योगियों के होता है जिन्होने समस्त प्रकार के परिग्रहों का त्यागकर जीवन मे तप को ही अगीकार करके भली प्रकार कलुषताओं का दमन करके निर्विकल्प रूप स्थिति को पाया है। जो सुख दु:ख में, कंचन कामिनी मे, शत्रु मित्र में, निन्दा प्रशसा मे समता परिणाम को धारण करते हैं उन योगियों को किस बल पर यह तप होता है उस पर भी कुछ ध्यान जाना चाहिए। जिन ज्ञानी पुरुषों ने इस पर्याय

से विविक्त अपने आपके चैतन्य स्वरूप मात्र में अपने उपयोग को लगाया है उनके लिए शत्रु मित्र, प्रशंसा निन्दा, सम्मान अपमान आदिक में साम्यभाव रहता है। वे तो अपने आपके विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी आत्म स्वरूप को ही अपने उपयोग में रखकर उसमें रमण किया करते है, और इसी रमण के लिए बाहरी तपश्चरण का विधान है।

"इच्छानिरोधस्तप " इच्छाओं का निरोध करना यही परम तप है। जो संस्कार अनादि काल से मेरी शान्ति का घात करने वाले है–जैसे अभिलाषायें होना, कलुषतायें होना, रोगादिक विकार भाव होना, आदि इन सब का निरोध करना इसका नाम तप है। जैसे अभी जो स्वर्ण पाषाण है वह शुद्ध स्वर्ण नही है। उसमें अभी अशुद्धता है, किट्टकालिमा है, जब उसको सोलह ताव वाली अग्निमें तपाकर किट्टकालिमा को दूर कर दिया जाता है तब वह विशुद्ध स्वर्ण होता है, ठीक इसी प्रकार हम आप मे जब तक इच्छाओ की, विभावो की, विकल्प विचार तरगो की जो कलुषताये है तब तक हम आप मलिन है। हम आपको विशुद्ध बनने के लिए ये धूप मे, अग्नि मे या जमीन के अन्दर गड्ढे मे पड़े रहने रूप कुतपो से काम न चलेगा। अरे इस ध्यान रूपी अग्नि को प्रज्वलित करके समस्त प्रकार की पर्याय बुद्धिया, पर की उपासना, समस्त प्रकार की कलुषतायें इन सबको ध्वस्त करना होगा। हमारे ऊपर जो अष्ट प्रकार के कर्मो का विकट बोझ बन्धन लगा हुआ है उनको ध्वस्त करने के लिए तप रुपी अग्नि को प्रज्वलित करना होगा। कोई चाहे कि हम सुखियापन से रह ले और मेरे कर्मरूपी ईधन का ढेर भी ध्वस्त हो जाय तो ऐसा हो कैसे सकता है ? अरे जिन तीर्थकरो के ध्रुव सिद्धि का नियम है उनको भी तप करना पड़ा। तब वे अपने आत्मा को विशुद्ध बना सके। तब फिर यहा हम आप देह के सुखिया रहकर किस तरह से इतने बड़े अष्ट कर्मो के ढेर को ध्वस्त कर सकेंगे ? अरे इस देह के सुखियापन को छोड़ना होगा। यहा के इन इन्द्रिय विषयो में ठोकर मारनी होगी, अपने आपके चैतन्य स्वरूप मे जब लीनता होगी तभी इन समस्त प्रकार के कर्ममलो का विध्वंस हो सकेगा। और तभी हमे वास्तविक आनन्द मिलेगा।

हम आपको आज यह मनुष्य शरीर मिला हुआ है, तो इसको पाने की सार्थकता इसको तप मे लगाने मे है। जैसे यहां पर कोई कारखाना लगाता है तो उसको मशीनरी फिट करनी होती है, वह मशीनरी लगाता है, तो ऐसा थोड़े ही सोचता

को चलायेगा, मशीन भी घिसेगी, पुर्जे भी धीरे-धीरे कमजोर होंगे, उन्हें भी वह बदलेगा। तभी वह अपने वस्तु उत्पादन के कार्य में सफल हो सकता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष इस शरीर को पाकर इसे एक मशीन समझकर इसके द्वारा शान्ति का कारखाना लगाते हैं। इसका सदुपयोग करते हैं। उनको अपने इस शरीर रूपी मशीन के द्वारा शान्तिरूपी वस्तु का उत्पादन करना है तो वे शरीर को तो अपना कारखाना समझ लेते है। वे यह नही देखते कि इसको ज्यों का त्यों रखे। अरे वे तो इस शरीर रूपी कारखाने को घिसने भी देते है, इसमें कोई अंगोपांग रूपी पेच पुर्जा बिगड़ेगा तो उसे भी सुधरवायेगे, और इसको कारखाने की भांति चला चला कर शान्तिरूपी वस्तु का उत्पादन करते है। इस शरीर की सार्थकता तो आत्मशान्ति पा लेने मे ही है। शरीर को तप मे लगाने से शान्ति प्राप्त होती है।

इस शरीर की सार्थकता तो इस तप से ही है, ऐसी बात ज्ञानी पुरुषो के चित्त मे घर किये हुए रहती है। तो मूल में दो प्रकार के तप बताये गये है (१) अंतरंग तप (२) वहिरगतप। अब बताते है कि अतरंग तप भी ६ प्रकार के है।

अंतरंगतप : (१) प्रायश्चित (२) विनय (३) वैयावृत (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग (६) ध्यान।

बहिरंगतप : (१) अनशन (२) अवमौदर्य (३) वृत्तिपरिसख्यान (४) रसपरित्याग (५) विविक्तसय्यासन और (६) कायक्लेश।

अब अतरग तप के विभागो मे पहले प्रायश्चित तप को लीजिये।

(१) प्रायश्चितप : प्रायश्चित के अन्दर दो शब्द है–प्रायस और चित्, प्रायस का अर्थ है अपराध और चित का अर्थ है शुद्धि करना। याने अंतरंग में जो राग द्वेष रूप अथवा विषय कषाय रूप अपराध होता हैं, दोष लगते हैं उसकी शुद्धि के लिए जो तपश्चरण किया जाता है उसे कहते हैं प्रायश्चित तप। इन रागद्वेषादि विकारो को विषय वासनाओ को इस तप बल के द्वारा पनपने ही न दें, उनको जड़ से समाप्त करें। किस विधि से ये समाप्त होंगे ? आत्मनिन्दा द्वारा, देव शास्त्र गुरु के समक्ष प्रायश्चित करके अनेक प्रकार के विधि विधानों द्वारा उन विकारों को, मलीमसताओ को, कलुषताओं को, ध्वस्त किया जा सकता है। तो ऐसे तप को कहते है प्रायश्चित तप।

(२) विनयतप : मूल में तो विनय यह है अपने आपकी जो बाह्य में दृष्टि लगाये हुए हैं, विकारों के कारण यह आत्मा संतप्त हो रहा है, उन सब विकार भावों से हटकर यह आत्मा अपने आपके शुद्ध आत्मस्वभाव की ओर झुके यही आत्मा की वास्तविक विनय है। ज्ञानी पुरुष अपने आपके प्रति झुकते हैं, यही उनकी अपने आपके लिए वास्तविक विनय है। इस वास्तविक विनय को करके वे अपने आपके तप की सिद्धि कर लेते हैं और व्यवहार में जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं उनके प्रति विनय होवे, गुरुजनों के प्रति साधर्मी बन्धुओं के प्रति देव शास्त्र गुरु के प्रति अपनी विनय होना यही है विनय तप।

(३) वैयावृत्त तप : व्यावहार में देखो तो गुरुजनों की, दीन दुःखी रोगी आदिक की सेवा को वैयावृत्ति कहते हैं, पर वास्तविक वैयावृत्ति तो अपने आत्मस्वरूप की सेवा करना है। आत्म स्वरूप इन विषय विकार आदिक मिथ्या भावों के कारण मलिन है, दुःखी है, पीड़ित है सो उसकी वैयावृत्ति करना सो वैयावृत्त तप है। इन विषय भोगों रूप पदार्थों को इस मोही मलिन प्राणी ने अपने चित्त में बसा रखा है, इसके कारण आज इसकी मलिन दशा है। इस मलिनता का दुःख का, संताप का निवारण करने के लिए वैयावृत्त तपश्चरण करना होगा। ज्ञानीजन इसी आत्मस्वभाव की वैयावृत्ति के लिए सदा सतत प्रयत्नशील रहा करते हैं तो यही उनका वास्तविक वैयावृत्त तप रूप है।

(४) स्वाध्याय : व्यवहार में स्वाध्याय कहते हैं वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रों के अध्ययन करने को। इस स्वाध्याय शब्द में दो शब्द हैं–स्व और अध्याय, स्व का अर्थ है आत्मा और अध्याय का अर्थ है अध्ययन करना। स्वका अर्थात् आत्मा का अध्ययन करना, चिन्तन करना, मनन करना, इसका नाम है स्वाध्याय। अपने आपके बारे में ऐसा चिन्तन होना कि मैं आत्मा सर्व से पृथक् एक ज्ञानमात्र आत्म तत्व हूं। सबसे निराला हूं, इस मुझ आत्मा का किसी भी पर पदार्थ से रंच भी सम्बन्ध नहीं है। यह आत्मा मात्र जानन देखनहार है। इसका स्वरूप ज्ञायक है। इस असमान जातीय द्रव्य पर्याय में मैं मनुष्य हूं, त्यागी हूं, विद्वान हूं आदिक रूप में अपने को अनुभवना यह तो एक मूढ़ता भरी बात है, और अपने आपको समस्त पर्यायबुद्धियों से पृथक होकर चैतन्य स्वरूप मात्र विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव मात्र अपने आत्म स्वभाव को उपयोग में लेना यही है वास्तविक स्वाध्याय और इस स्वाध्याय की प्राप्ति के लिए वीतराग पुरुषों द्वारा कहे हुए शब्दों का संकलन

जिनवाणी में है। अतः जिनवाणी का स्वाध्याय करके अपने चैतन्य स्वभाव में स्थिर होवें।

(५) व्युत्सर्ग तप : इस काय (शरीर) से ममत्व का छोड़ना और अपने आपके निर्ममत्व स्वरूप का चिन्तवन करना व्युत्सर्ग तप है। यह देह तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न स्वरूप रखती है। यह तो पौद्गलिक है, मूर्तिक है, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक का पिण्ड है। यह मैं आत्मा चैतन्य स्वरूप हूं, इस शरीर से बिल्कुल भिन्न पदार्थ हूँ, इस प्रकार का चिन्तन करना सो व्युत्सर्ग तप है।

(६) ध्यान तप : पहिले जो ५ प्रकार के तप बताये गये है उन सब का प्रयोजन है इस उत्तम ध्यानकी स्थिति मे आनेका। यह ध्यान क्या है ? अपने आपको ऐसा अपने आपके आत्मस्वरूप मे तल्लीन कर देना कि जहां–किसी प्रकार का वाह्य चिन्तन न रहे, विकल्प न रहे मात्र अपने चित्स्वभाव मे ही अपना उपयोग गड़ जावे, ऐसी स्थिति को कहते है ध्यान। जैसा कि तत्वार्थ सूत्र मे कहा है कि 'एकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानम्', अर्थात् एक ही विषय की ओर चित्त का लग जाना और अन्य चिन्ताओ से मुक्त हो जाना सो ध्यान है।

इन उपरोक्त ६ प्रकार के अतरंग तपों से कर्मो की निर्जरा होती है, कर्म मलीमसताये धुलती है और आत्मा निर्मल बन जाता है, पर इन ६ प्रकार के तपश्चरण करने के लिए जो बाह्य तपश्चरण सहायक रूप से ६ प्रकार के बताये गये है उनको भी करना आवश्यक है। ये बाह्य तपश्चरण अंतरंग तपश्चरण के कारण है। वे ६ बाह्य तप इस प्रकार है —

बाह्य तप : (१) अनशन तप : चार प्रकार के आहार का त्याग कर देना सो अनशन तप है। वे चार प्रकार के आहार है खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय। अनशन का दूसरा अर्थ उपवास भी है। उपवास शब्द का अर्थ भी यही है–उप मायने समीप और वास मायने रहना, अर्थात् अपने आपके समीप वास करना सो उपवास है। अब यह काम कैसे हो ? सो जहा पर आहार करने का भी विकल्प न हो, मात्र अपने आत्मस्वरूप के निकट वास करने का जहां ध्यान हो, झुकाव हो ऐसी स्थिति पाने के लिए यथा शक्ति अनशन करना भी आवश्यक है। इन चारो प्रकार क आहारो का त्याग किया जाता है विषय कषायो पर विजय प्राप्त करने के लिए। जब तक इन विषय कषायो पर विजय नहीं प्राप्त की जायगी तब तक आत्म स्वरूप में रमण करने की स्थिति बन नहीं सकती। अतः इन विषय कषाय

आदिक विकार भावों से बचने के लिए अनशन आवश्यक बताया गया है। आगम में एक जगह कहा है कि –

कषायविषयाहारो, त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासो सविज्ञेयो, शेषं लंघनकं विदुः ॥

अर्थात् यदि चारों प्रकार के आहार का त्याग तो कर दिया, विषय कषायों का और तत्सम्बंधी इच्छाओं का त्याग न किया तो आचार्य देव कहते हैं कि उसका उपवास नहीं कहलाया। वह तो लंघन है। ऐसा उपवास क्या फल देगा जिससे व्याकुलता हो जाये, आकुलता मच जाय। वहां तो उपवास करके भी यही मन करता है कि कब दिन पार हो, दूसरा दिन हुआ नहीं कि आहार करने की बड़ी जल्दी पड़ जाती है। तो ऐसा उपवास करने से फायदा भी क्या हुआ ? जहां आकुलतायें मच जायें ऐसा अनशन करने से अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती। उपवास में विषय कषाय और आहार इन तीनों चीजों का त्याग होता है। अरे अनशन करने का मुख्य प्रयोजन तो यह था कि सर्व प्रकार के आरम्भ परिग्रह विषय कषाय आदिक से दूर रहकर एक इस आत्म ध्यान में रत हुआ जाय। पर कोई अनशन करके इन्हीं लौकिक कार्यों में ही पड़ जाय तो उससे लाभ क्या पाया ? अथवा कोई सोचे कि चलो आज अपना अनशन का दिन है, इसे तो निद्रा लेकर व्यतीत करें, तो उससे भी क्या सिद्धि मिल पायगी ? अरे यह अनशन तप तो आत्म ध्यान के लिए है। जिस दिन अनशन है उस दिन पूरा समय धर्म ध्यान में व्यतीत किया जाय। उस चिन्तन में ऐसा विचार किया जाय कि हे आत्मन्, मैंने अनादि काल से लेकर अब तक न जाने कितना कितना खाया है, पर उससे कभी तृप्ति नहीं मिली। अब तो मैं २४ घंटे के लिए किसी भी प्रकार के आहार को न ग्रहण करूंगा, उसका विकल्प तक भी न रखूंगा। अरे जब कभी भी आज तक इस आहार से तृप्ति न हुई अब उसकी क्या इच्छा करना ? यह आत्मा अविनाशी है। कहीं हमारे एक दिन आहार न करने से यह आत्मा मिट थोड़े ही जायगी। अपने अनशन स्वाभावी आत्मा का चिन्तन करना यही प्रयोजन है इस अनशन तप का।

देखो–लोगों में एक ऐसा सुखियापन होता है कि वे एक दिन को भी राजी खुशी से आहार नहीं छोड़ पाते हैं पर कदाचित बीमार हो गये, डाक्टर ने दो हफ्ते को अन्न छोड़वा दिया तो बड़ी राजी खुशी से छोड़ देते हैं। अरे यदि राजी खुशी

से उसी प्रकार कभी-कभी आहार का विकल्प छोड़कर आत्म ध्यान करें तब तो उद्धार हो जायगा। जरा चिन्तन करो नरक भूमि की क्षुधा तृषा आदि की वेदनाओं का। तीनों लोक का सारा का सारा अन्न खा जाये फिर भी क्षुधा न मिटे, इतनी विकट क्षुधा की वेदना वहां होती है, फिर भी एक कण भी अन्न खाने को नहीं मिलता। जब ऐसी बात है तो फिर यहां स्वच्छन्द बनकर आहार के लिए अपना क्या प्रवर्तन बनाया जा रहा है ? अरे कुछ तो चेतें और अनशन तप के द्वारा अपने उत्तम कार्य को कर लेवें, इससे ही इस अपने जीवनकी सार्थकता है।

(२) अवमौदर्य तप : अल्प आहार का नाम है अवमौदर्य। इसे ऊनोदर भी कहते हैं। इस अवमौदर्य शब्द में दो शब्द हैं अव तथा मौदर्य। अव का अर्थ है कम और मौदर्यका अर्थ है पेट, अर्थात् पेट से कम खाने का नाम है अवमौदर्य तप। भूख से कम खाना यह तो अनशन से भी बड़ा तप है जैसे अनशन तप करने से विषय कषाय आदिक के विकारभाव शिथिल हो जाते हैं ऐसे ही इस तप करने से निद्रा, आलस, प्रमाद, विषय कषाय आदिक विकार भाव शिथिल हो जाते हैं। अनशन तप से भी बड़ा तप इस ऊनोदर को कहा है। भूख से कम खाना वास्तव में एक ऊंचा तप है जैसे कोई कपड़े का व्यापारी हो उसके यहां लोग शादी ब्याह आदिक के लिए कपड़ा खरीद रहे हैं तो वह व्यापारी दुकान को छोड़ना नहीं चाहता, क्योंकि अधिक आय होने की सम्भावना है, पर यदि कोई व्यापारी ऐसे मौके पर भी उस दुकान की काम काज की उपेक्षा करदे तो यह उसके लिए अधिक प्रशंसा की बात है, क्योंकि उसकी इसमें आसक्ति नहीं है। ठीक इसी प्रकार जहां भोजन सामग्री बहुत रखी हो, अनेक प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन रखे हों और उनकी वह उपेक्षा करके अध पेट ही खाकर चल दे तो यह तो उसके लिए प्रशंसा की बात है, क्योंकि उसकी उस भोजन में आसक्ति नहीं है। तो यह ऊनोदर तप इन अनशन तप से भी कठिन तप है।

(३) वृत्तिपरिसंख्यानतप : जब साधु जन आहार करने के लिए निकलते हैं—जैसे यदि अमुक गली में चौका होगा तब तो आहार करूंगा, इतने लोग इस तरह की चीजें लेकर यदि पड़गाहने के लिए खड़े होंगे तब ही आहार लूंगा आदि अनेक प्रकार की आखड़ी लेकर मुनिजन आहार के लिए निकलते हैं ? अरे आहार करने को भी वे एक आफत समझते हैं। आहार वे करना ही नहीं चाहते। उसमें उन्हें आसक्ति ही नहीं सो वे अपने उदर की परीक्षायें करते रहते हैं। अगर योग्य विधि से आहार मिल गया तो ले लिया नहीं तो उसकी भी उपेक्षा करके चल देते

हैं। बहुत-बहुत मनाया जाने पर भी वे आहार नही लेना चाहते। उनका उस आहार के प्रति उपेक्षा का भाव रहता है। ऐसा वृत्तिपरिसंख्यान तप करके वे मुनिजन अपने में छिपे हुए रागद्वेष विषय कषाय आदिक मलीमसताओं के संस्कारों को शिथिल बनाते रहते है।

(४) **रसपरित्यागतप** : जो भी खाद्य अथवा पेय पदार्थ होते है उनमें स्वाद तो होता ही है। तो स्वाद की दृष्टि से तो वे मुनिराज आहार ग्रहण नही किया करते। स्वादिष्ट भोजन करने से रसना इन्द्रिय की लम्पटता प्रतीत होती है। अत' इस रसना इन्द्रिय पर कन्ट्रोल करने के लिए वे मुनिजन नीरस आहार ग्रहण किया करते है नीरस आहार करने से विषयादिक की वासनाये क्षीण हो जाती है। अत यह नीरस भोजन धर्म मार्ग मे प्रगति करने के लिए सहायक होता है। फिर मुनिजन तो आहार करते है मात्र इस शरीर को टिकाये रखने के लिए। तभी तो मुनिजनो के लिये खड़े खड़े आहार लेने का विधान है। खड़े होकर आहार लेने में इस बातका परीक्षण है कि शारीरिक शक्ति कैसी है। खड़े होकर भोजन करने से स्वाद लेने की या भोजनमे आसक्ति जगनेकी बात नही बन पाती। वे मुनिजन घासवत् नीरस आहार करते है। वे केवल पेटरूपी खड्डा भरने के लिए कभी केवल एक ही रस ले रहे, कभी दो ही, आदि रसो को परित्याग करके भोजन करते है। इस तप का आज जैसा विकृत रूप नही है। नमक के त्याग में मीठे पदार्थोका ग्रहण किया, मीठे के त्याग मे मुनक्को का मीठा बना लिया, और दूध के त्याग मे बादामो का दूध बना लिया आदि। सच्चे योगी का तप अपने हित के अर्थ होता है। अपने भोजन लोलुपता सम्बन्धी संस्कारो को तोड़ने के अर्थ होता है। खड़े होकर भोजन करने मे एक बात और भी है कि जिस तरह बच्चों को अपने खेल मे मस्त होने से खाने के लिए जब मां बुलाती है तो खड़े ही खड़े खाकर खेलने चले जाते है झटपट, इसी तरह उन योगी पुरुषो को अपने आप के ध्यान की ऐसी धुन रहती है कि उन्हें कहां फुरसत कि बैठकर भोजन ही करलें। वे खड़े खड़े ही झटपट जो कुछ मिला उसे खाकर आत्मध्यान को चल देते है। देखिये--चरणानुयोग के शास्त्रों मे जो भी चर्चायें आयी है उनमे वैज्ञानिक विशेषतायें भी बहुत भरी है। सो उन विशेषताओं को समझे और उनके अनुसार अपने आपको ढालें तो फिर ऐसा नही हो सकता कि उन विधियों के द्वारा हम अपने आपके चैतन्य प्रकाश को प्राप्त ना करें। तो इन ६ प्रकार के बहिरंग तपों में रस परित्याग को भी बड़ा महत्व दिया गया है।

(५) विविक्तशय्यासनतप : एकान्त स्थान में सोना, उठना बैठना इसका नाम है विविक्तशय्यासन । देखिये—आत्मा का जो सर्व पदार्थों से विशिष्ट स्वरूप है उसे अपने उपयोग में लाने के लिए विविक्तशय्यासन तप करने की परम आवश्यकता है । गृहस्थजनों के बीच रहकर नगरों में रहकर इन मोहीजनों के सहवास में रहकर अपने आपके विविक्तस्वरूप का ध्यान नहीं किया जा सकता । आज तो देखते है कि त्यागी लोग भी कहने लगते हैं कि आज तो हम यहां अकेले ही रह गये, अमुक लोग चले गये, यहां हमारा मन ही नहीं लगता ।—अरे यदि अपने जीवन में कुछ कल्याण की दिशामें बढ़ना है तो इस विविक्तशय्यासन तप का स्वागत करना होगा । उन मोहीजनों का संसर्ग छोड़कर एकान्त स्थानों में रहकर धर्म साधना करनी होगी । देखो जिन पुरुषों के चरित्र आज हम आप पढ़ते हैं उन्होने भी क्या किया था ? संसार के इन मायामयी प्रसंगों को छोड़कर हजारों वर्ष जंगलों में, निर्जन, एकान्त स्थानों मे रहकर इसी विविक्तशय्यासन तप को किया था । तभी वह अपने आपके अनन्त आनन्द की स्थिति को प्राप्त कर सके ।

(६) कायक्लेशतप : अंतिम बाह्य तप है काय क्लेश । अपने आपकी परीक्षा के लिए प्रतिकूल परिस्थितियों में भी रहते हुए मुनिजन काय क्लेश तप को तपा करते है । जैसे गर्मी के दिनों में पहाड़ों की तप्त चट्टानों पर बैठकर तपश्चरण करना अथवा शीत काल मे नदियों के तट पर (अत्यन्त शीत के स्थानों में) बैठकर काय क्लेश रूप तप करना, बरसात के दिनों में पेड़ोंके नीचे ही बैठकर तपश्चरण करना, ऐसी प्रतिकूल स्थितियो में भी वे मुनिराज इस काया (शरीर) पर जरा भी दृष्टि न रखकर अपने अंतः स्वरूप में लीन हुआ करते है । काय सम्बन्धी क्लेशों को क्लेश न मानकर वे अंतः प्रसन्न रहा करते हैं । देखिये सुकुमाल, गजकुमार तथा पांचों पाण्डवों आदि के दृष्टान्त हमारे सामने हैं । सुकुमाल बाल्यावस्था में किस तरह से पले पुसे थे, पर मुनि अवस्था में जिस समय उनके शरीर का भक्षण सिंहनी (उनकी ही पूर्वभवकी माता) कर रही थी, पर उस घोर उपसर्ग के समय भी रंच विचलित न हुए । वे अपने आत्म ध्यान में ही लवलीन थे, यह था उनका कायक्लेश तप । गजकुमार के सिर पर उनके ही ससुर ने अंगीठी जलायी लेकिन वे उस समय आत्मध्यान में इतने लवलीन थे कि वे बाहरी उपद्रव उन्हें उपद्रव ही नहीं प्रतीत हुए । शरीर की ओर उनका कुछ ध्यान ही न था । वे तो अपने

आत्मध्यान में रत होकर अनन्त आनन्द में विभोर हो रहे थे। यह था उनका कायक्लेश।

देखो पांचों पाण्डवों को उनकी मुनि अवस्था में कौरववंश के द्रोही लोगों ने अपना बदला चुकाने के लिए अग्नि में तप्त किये हुए लोहे के आभूषण पहनाये थे। उनका सारा शरीर जल रहा था, लेकिन उन घोर उपसर्गों पर वे रंच भी विचलित नहीं हुए। उन्हें तो इस शरीर की ओर भान ही न था। वे तो अपने आत्म स्वरूप में ही स्थित रहे। अतः इन घोर उपसर्गों के समय में भी वे रंच भी विचलित नहीं हुए। यह था उनका कायक्लेश तप। देखिये–कुंथल गिरी पर्वत पर देशभूषण और कुलभूषण ध्यान में थे। उन पर किसी दैत्य ने कितने ही उपसर्ग ढाये, पर उन उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करते गये। यह किस बल का प्रताप था ? कौन सी चीज उन्होंने पा ली थी जिसकी वजह से ऐसे घोर उपसर्गों के समय भी जरा भी विचलित नहीं हुए।–अरे उन्होंने इस शरीर से भिन्न अपने आपके आत्मस्वरूप को पहिचाना था। इस आत्मस्वरूप के ध्यानमें मग्न होने के कारण ही उन्होंने उन घोर उपसर्गों को समता पूर्वक सहन किया था। वे रंच भी अपने स्वरूप से न डिगे थे, यह था उनका कायक्लेश तप।

इस तपश्चरण का कितना चमत्कार है इसका एक जीता जागता उदाहरण है। एक रूपलक्ष्मी नामकी महिला थी, वह पंचमी के ५-५ दिनके उपवास किया करती थी। वह बड़ी भोलीभाली थी, उसने अपने जीवन में कभी रोना नहीं सुना था। तो एक बार क्या घटना घटी कि वह अपने घर से कहीं बाहर जा रही थी, सो रास्ते में उसे एक रोती हुई महिला दिख गई। उसका कोई बेटा मर गया था, जिससे वह रो रही थी। तो रूपलक्ष्मी ने जब यह रोना सुना तो समझा कि यह तो कोई स्त्री गीत गा रही है। उसने कभी रोना सुना ही न था। इसलिए उसे गीत समझ लिया। सो उस रोने वाली स्त्री से कह उठी कि बहिन तुम तो बहुत अच्छा गा रही हो। उसे लग गया बुरा कि देखो हमारा तो बेटा मर गया जिससे हम रो रहे हैं और यह कहती है कि तुम बड़ा अच्छा गीत गा रही हो। उसने यह प्रतिज्ञा की कि मैं भी इसको इसी तरह से रुलाकर रहूंगी। क्या उपाय किया कि एक मिट्टी के सकोरे में जहरीला सर्प भरकर उसे बन्द करके रूपलक्ष्मी को दिया और कहा बहिन इस सकोरे के अन्दर बड़ी कीमती रत्नों की माला है, उसे तू अपने बेटे को पहिना देना। वह तो घर चली गई। उधर उस स्त्री ने अपने

बेटे से कहा कि बेटा तुम ९ बार णमोकारमंत्र पढ़कर इस सकोरे के अन्दर से रत्नमाल निकालकर पहिन लो। बेटे ने वैसा ही किया। उसे उस सकोरे के अन्दर कीमती रत्नों की माला मिली। उसे पहिन लिया। पहिनकर फिर उसी सकोरे में रखकर बन्द कर दिया। दूसरे दिन वही स्त्री जो कि वह सकोरा दे गयी थी, आती है। वह सोच रही थी कि उसका तो बेटा सर्प के काटने से मर चुका होगा, पर वहां जाकर देखा तो बात कुछ और ही और थी। पूछा बहिन, पहिनाया था वह रत्नमाल अपने बेटे को ?—हां बहिन पहिनाया तो था। वह तो बहुत ही सुन्दर रत्नमाल है।—कहां रखा है ?—उसी सकोरे में। जब उस स्त्री ने उस सकोरे में हाथ डाला तो उसी जहरीले सर्प ने उसको डस लिया और वह मरण को प्राप्त हो गयी। तो इस दृष्टान्त से अपने लिए शिक्षा योग्य बात यह लेना है कि उस रूपलक्ष्मी के पचमी के ५-५ दिन उपवास करने का यह फल था कि उसकी रक्षा हुई तो हम आपको ये व्रत उपवास आदिक तपश्चरण करके अपने जीवन को रक्षित बना लेना चाहिए और अपने भविष्य को उज्ज्वल बना लेना चाहिए।

तपश्चरण करने का प्रभाव है आत्मा की बिशुद्धि होना। तपश्चरण करने वालों का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता है। देखिये जब राजा श्रेणिक ने यशोधर मुनिराज के गले में जगल मे सर्प छोड़ा था और चेलनाने बादमे उस उपसर्ग का निवारण किया था तो उस समय मुनिराज ने दोनों को ही (उपसर्ग करने वाले को और उपसर्ग हटाने वाले को) एक ही आशीर्वाद दिया था—'उभयोर्धर्मवृद्धिः', अर्थात् तुम दोनों को धर्मवृद्धि हो। इतनी बात को सुनकर राजा श्रेणिक पर बड़ा प्रभाव पड़ा, ओह धन्य है ये मुनिराज, उनकी दृष्टि मे उपसर्ग करने वाला और उपसर्ग टालने वाला दोनो ही बराबर है। उस समय राजा श्रेणिक के भाव अत्यन्त विशुद्ध हुए। सो देखिये—भावों का फल कि कहां तो उपसर्ग करते समय राजा श्रेणिक ने ३३ सागर की आयु बांधी थी, और उस समय मुनिराज द्वारा आशीर्वाद के शब्द सुनते समय ऐसे विशुद्ध भाव हुये कि केवल ८४ हजार वर्ष की आयु रह गई। यह आत्म विशुद्धि का ही तो प्रताप है। तपश्चरण करने का फल है आत्मविशुद्धि होना प्रत्येक कल्याणार्थी को आत्म विशुद्धि करने के लिए तपश्चरण को अंगीकार करना ही होगा।

एक और भी दृष्टान्त देखिये—एक रानी का बाग था। वह रानी बाग को हरा भरा बनाये रखने की बड़ी शौकीन थी। एक बार जब वह बीमार हुई तो अपने

बेटे से बोली बेटा—मैं तो बीमार हो गयी हूं। सो जब तक मैं ठीक न हो जाऊं तब तक तुम इस बगीचे को सींचकर सफाई वगैरह करके खूब हरा भरा बनाये रखना।—अच्छी बात अब वह बालक क्या करता है कि प्रतिदिन डाली डाली, पत्ती पत्ती खूब धोता था, साफ करता था, किसी भी पत्तोंमें, डाली में, धूल लग गयी तो तुरन्त बड़ी सावधानी से उसे धोकर साफ कर देता था। यह क्रिया वह बालक प्रति दिन करता रहा, पर हुआ क्या कि थोड़े ही दिनों में सारा बाग सूख गया। जब उसकी मां ठीक हुई और देखा कि सारा बाग सूख गया तो बहुत दुःखी हुई और बोली—बेटा तुमने इस बगीचे को सींचा नहीं था ?—अरी मां मैंने सारे बगीचे को बहुत बहुत सींचा था, सारी पत्तियों, सारी डालियों को, एक एक को मैंने प्रतिदिन खूब जल से धोया, साफ किया, किसी पत्ती या डालीपर धूल का धब्बा भी नहीं लगने दिया। मां मैंने तो बड़ा श्रम किया, फिर भी बाग सूख गया। बेटा तुमने जड़ों में भी पानी डाला था कि नहीं ?—मां जड़ों में तो पानी नहीं डाल पाया।—अरे तो कैसे बगीचा हरा भरा रह सके ? ठीक यही हाल हम आप अपने लिए सोचें। आत्मा की बात को तो चित में न लावें और हम आप इस त्याग मार्ग को तो अपना लेवें तथा त्यागमार्गमें आनेके मर्मको न पहिचानें, आत्मस्वरूप की लीनता लाने की बात चितमें न लावें और केवल ऊपरी ऊपरी त्यागी पने की क्रियायें भर करते रहें अथवा केवल त्यागीपने का ढोंग बनाये रहें तो जरा सोचो तो सही कि अपना यह आत्मउपवन किस तरह से हरा भरा रह सकेगा ? अरे जिस तरहसे डाली डाली, पत्ता पत्ता सींचनेसे बगीचा हरा भरा नहीं रह सकता, सींचना चाहिये वृक्षों की जड़ों को, ठीक इसी प्रकार केवल इस शरीर की ऊपरी ऊपरी सफाई रखने से, ऊपरी कुछ क्रियायों को ही करके उनमें ही धर्म मानकर उनमें अटके रहने से काम न चलेगा। सबसे पहिले जड़ को सींचना होगा अर्थात् अपना लक्ष्य विशुद्ध बनाना होगा, अपने को उत्तम तपश्चरण में लगाना होगा तभी इस धर्मरूपी वृक्ष को पालकर आत्म उपवन को हरा भरा रखा जा सकेगा।

यह जीवन तो दनादन बीता ही जा रहा है। बीता हुआ समय वापिस लौटकर नहीं आता। पर्वत से गिरने वाली नदी की तरह यह जीवन नीचे की ओर लुढ़कता जा रहा है। अतः शीघ्रता करो इस तपश्चरण को पाने के लिए। अन्यथा तो सारी उमर यों ही व्यर्थ में व्यतीत हो जायेगी और अन्त में पछतावा ही लगेगा। जैसे

एक प्रसिद्ध दृष्टान्त है कि समय के फेर से कोई सेठ गरीब हो गया। वह अपने मित्र राजा के पास जाकर निवेदन करता है कि महाराज मैं दिनों के फेर से गरीब हो गया हूं, कृपाकर आप मुझे कुछ धन दीजिये। तो राजा बोला—अच्छा कल तुम दो बजे से चार बजे तक हमारे हीरा जवाहरात के खजाने में चले जाओ और उन दो घंटों में जितना हीरा जवाहरात तुम ले जा सको ले जाना। अपने पहरेदार को भी इस बात की सूचना दे दी कि कल के दिन अमुक सेठ आयगा, उसे दो बजे से चार बजे तक जितना चाहे रत्न ले जाने देना, मगर समय पूरा हो जाने पर तुरन्त बाहर निकाल देना। सो पहुंचा वह सेठ रत्नों के खजाने में। तो अन्दर पहुंचकर क्या देखता है कि बड़े सुन्दर खेल खिलौने रखे हैं। सो मन में आया कि अभी समय तो काफी है, पीछे ले लेंगे रत्न जवाहरात। अभी कुछ खिलौने देखें। हुआ क्या कि उन खेल खिलौनों के देखने में ही सारा समय व्यतीत हो गया। पहरेदार ने उसे तुरन्त निकालकर बाहर किया। सेठ फिर पछताता हुआ राजा के पास गया, बोला महाराज—आज तो हमारा खजाने में जाना ही बेकार हो गया। खेल खिलौनों में ही रमकर सारा समय खो दिया। कृपाकर आप मुझे कुछ धन दे दीजिये—राजा ने फिर कहा—अच्छा कल तुम उसी समय पर दो घंटे के लिए सोने के खजाने में जाकर जितना चाहे सोना ले आना। पहुंचा सेठ दूसरे दिन सोने के खजाने के अन्दर, तो वहां क्या देखा कि बड़े सुन्दर घोड़े बंधे हुए थे, उनमें से एक काला घोड़ा बहुत ही सुन्दर था। वह घोड़ों का शौकीन तो था ही, तो उस काले घोड़े पर बैठकर घूमने लगा, इसी प्रक्रिया में दो घंटे का समय व्यतीत हो गया और चपरासी ने कान पकड़कर निकाल दिया। फिर राजा के पास पहुंचा—बोला महाराज आज भी मैं वहां से कुछ न ला सका, समय घुड़सवारी करने में ही निकल गया। तो राजा ने कहा अच्छा कल के दिन तुम चांदी के खजाने में जाकर उसी दो घंटे में जितना चाहे चांदी ले आना। सेठ तीसरे दिन फिर पहुंचा तो वहां क्या देखता है कि एक गोरख धंधे का खेल था। कुछ छल्ले एक दूसरे से फंसे थे। किसी छल्ले को सेठ ने छू लिया तो वह उलझ गया। चपरासी ने कहा सेठजी तुम्हें तो वह छल्ला उसी तरह से सुलझा देना पड़ेगा सो ज्यों ज्यों वह सुलझाये त्यों त्यों ही वह उलझता जाता था। यों सारा समय व्यतीत हो गया और चपरासी ने निकाल बाहर किया। सेठ फिर पछताता हुआ राजा के पास पहुंचा, बोला—महाराज आज भी मेरा समय गोरखधंधेमें ही व्यर्थ चला गया, कुछ न ला सका, कृपा कर एक बार और कुछ खजाने से लाने का आदेश दे दीजिये। तो

इस बार राजा बोला—अच्छा देखो तुमको यह अन्तिम मौका दिया जा रहा है। अब इसके बाद मौका नहीं दिया जायगा। कलके दिन तुम तांबे के खजाने में जाना और उन्हीं दो घंटोंमें जितना चाहे तांबा ले जाना। जब सेठ चौथे दिन फिर पहुंचा तो वहां क्या देखा कि एक स्प्रिंगदार सुन्दर कोमल सुकोमल गद्देदार पलंग था। उसे देखकर उसके मन में आया कि अभी तो काफी समय है, जरा इस पलंग पर दो चार मिनट को लेटकर देखें तो सही कि कितना अच्छा लगता है। सो ज्यों ही लेटा कि नींद आ गयी। सो गया। समय व्यतीत हो गया, और चपरासी ने निकाल बाहर किया। तो देखिये—जैसे सेठ ने सारे श्रम किये पर खेल खिलौनों में, घोड़ों की सवारी में, गोरखधंधों में और पलंग पर लेटने में अपना सारा समय गंवा दिया, लाभ कुछ न पा सका, इसी प्रकार संसारी प्राणी भी इस दुर्लभ मानव जीवन की चार अवस्थाओं में व्यर्थके ही कार्यों में पड़कर अपना सारा जीवन व्यतीत कर लेता है, लाभ कुछ नहीं पाता। बचपन की अवस्था खेल खिलौनों में व्यतीत कर देता है, कुमार अवस्था के समय बाहनों में चढ़ने घूमने में व्यतीत कर देता है, फिर यौवन अवस्था में शादी होने पर गोरखधंधे में समय बीतता है। उसमें ही उलझा रहता है और वृद्धावस्था में पलंग पर लेटा लेटा अपना समय व्यतीत कर देता है। अरे इस दुर्लभ नर देह को पाकर कुछ न कुछ शक्ति प्रमाण तपको स्वीकार करो। जिस प्रकार बात पित्त कफ आदि का प्रकोप नहीं हो, परिणामों में उज्वलता बनी रहे और तप में उत्साह बढ़ता रहे ऐसा तपश्चरण करना चाहिए। बालक वृद्ध, धनी निर्धन सबल-निर्बल आदि सभी को यथाशक्ति तप अवश्य करना चाहिए। तप से ही इस जीव का कल्याण है। काम, निद्रा, प्रमाद आदि को नष्ट करने वाला तप ही है। सम्वर निर्जरा का प्रधान कारण तप ही है। तप का अचिन्त्य प्रभाव है। त्रैलौक्य में तप समान अन्य नाहीं।

अब देखिये—जैसे एक जगह किसी कवि ने कहा है ना कि :—

"दोऊ काम नहिं होत सयाने, विषय भोग अरु मोक्षहु जाने ॥"

अर्थात् ऐसा न हो सकेगा कि यहां की इन मायामयी चीजों में रमते भी रहें, यहां के मौज भी लूटते रहें और हमारा कल्याण भी हो जाय। यदि जीवन में कुछ आगे बढ़ना है और अपने जीवन को सफल बनाना है तो इस तपश्चरण को अंगीकार करना होगा। इस तपश्चरण के द्वारा ही सारी कलुषताओं को, विकार

भावों को समाप्त किया जा सकता है। इस दुर्लभ मानव जीवनको पाकर अपना कर्तव्य यही है कि तत्त्व का मनन करें तथा तप में उद्यमी रहें। यह आयु तो क्षण क्षण में बीती जा रही है। जैसे नदी से गिरने वाला पानी नीचे बह गया तो फिर पुनः लौटकर नहीं आता इसी प्रकार जीवन का जो समय बीत गया वह लौटकर पुनः नहीं आता। अतः ऐसा जानकर शीघ्र ही यथासम्भव इस तपश्चरण धर्म का पालन करें और अपना यह दुर्लभ मानव जीवन सफल करें। द्यानतरायजी ने निम्न पंक्तियां तप के सम्बन्ध में कितनी सुन्दर कही हैं।

तप चाहें सुर राय, करम शिखरको वज्र है।
द्वादश विध सुख दाय, क्यों न करे निज सकति सम॥
उत्तम तप सब मांही बखाना, करम शैल को वज्र समाना।
बस्यो अनादि निगोद मझारा, भू विकलत्रय पशु तन धारा।
धारा मनुष तन महा दुरलभ, सुकुल आयु निरोगता।
श्री जैन वाणी तत्वज्ञानी भई विषयपयोगता।
अति महा दुरलभ त्याग विषय, कषाय जो तप आदरें।
नरभव अनूपम, कनक घर पर मणिमयी कलसा धरें।

(ॐ ह्रीं श्री उत्तम तप धर्मांङ्गाय नमः)

उत्तम त्याग

आज त्याग धर्म का दिन है। छोड़ने का नाम है त्याग। 'त्यजती-तित्याग।', क्या छोड़ना ? धन सम्पदा आदिक परिग्रह, जो कि कर्म के उदय जनित हैं, विनाशीक हैं अहंकार को उत्पन्न करने वाले हैं, तृष्णा को बढ़ाने वाले हैं, राग द्वेष की तीव्रता करने वाले हैं, आरम्भ की तीव्रता करने वाले हैं, ऐसे परिग्रहों का त्यागना सो है उत्तम त्याग। परमार्थ में देखा जाय तो इन परिग्रहों को नहीं छोड़ना हैं, क्योंकि ये तो छूटे हुए ही हैं। आत्मा इनसे भिन्न ही है, पर इन परिग्रहों के प्रति जो ममता है, अनादिकाल से जो ये मिथ्या भाव बनते हैं कि ये परपदार्थ मेरे हैं, ऐसे मिथ्या-भावों का त्याग करना हैं। तो आत्मा की विशुद्धि करना, सत्य प्रतीति सहित अपने चैतन्य स्वभाव को उपयोग में लेना और समस्त प्रकार के बाह्य पदार्थों के प्रति जो आकर्षण है, परिग्रहण है, झुकाव है उसको छोड़ना इसे कहते हैं उत्तम त्याग धर्म। इसी को अपने जीवन में अपनायें तभी इस विकट संसार समुद्र से पार हुआ जा सकता है। इस सम्बन्ध में अनेक दृष्टान्त पुराणों में मिलते हैं। इन तीर्थंकर, चक्रवर्ती अथवा बड़े बड़े राजा महाराजाओं ने जब यहां के पर पदार्थों को असार लखा, उनसे अपना ममत्व हटाया, इन समस्त प्रकार के भोग साधनों को सदा के लिए तिलांजलि दे दी, अपने आपको आत्मस्वभाव की शरण ली, तभी वे कल्याण के पात्र बन सके। मगर इस लोक में देखो इन्हीं पर पदार्थों के प्रति इतनी ममता की जा रही है, उन्हीं का ग्रहण किये हुए हैं और उन्हीं के पीछे सतत् प्रयत्नशील रहा करते हैं। अपना सारा जीवन भी उन्हीं के पीछे पड़कर बरबाद कर डालते हैं। अरे आत्मन् जरा विचार तो सही कि तेरा इन समस्त पर पदार्थों से कुछ सम्बन्ध भी है क्या ? अरे ये तो प्रत्यक्ष ही तेरे लिए विनाश के कारणभूत हैं। इनके ग्रहण के विकल्पों को तू छोड़ दे, उनकी ओर आकृष्ट तू मत हो, तू तो अपने आपके चैतन्य स्वभाव की शरण ले, बस तेरे ऊपर मंडराने वाले समस्त संकट टल जायेंगे। इस त्याग धर्म के द्वारा ही इस मानव जीवन का उत्थान हो सकता है। इस जैनदर्शन की त्याग की ओर प्रवृत्ति कराने से ही महिमा है। यहाँ

जितना धर्म होता है वह त्यागपूर्वक होता है, ग्रहणपूर्वक नहीं होता । मोही जीवों की बुद्धि तो परपदार्थों के अपनायत (संचय) की ओर रहा करती है, तो बतलाओ उन्हें अपने आपके स्वरूप का वास्तविक आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ? उन्हें तो उसकी गंध भी नहीं मिल सकती ।

यहां के सुख और दुःख भी त्याग और ग्रहण के आधार पर ही निर्भर है । जितना अधिक त्याग किया जायगा उतना ही अधिक सुख प्राप्त होगा और जितना अधिक पर पदार्थों के प्रति ग्रहण का, आकर्षण का, अपनाने का भाव होगा उतना उतना ही अधिक दुःख प्राप्त होगा ऐसा जानकर इस त्यागधर्म को अपनायें और परपदार्थों के प्रति ग्रहण की, आकर्षण की, अपनायत की बुद्धि को छोड़ें, यह अपनायत तो महा दुःखदायी है । कोई एक साधु था, वह हर जगह से भिक्षा मांग कर खाता पीता था । उसके पास परिग्रह किसी भी बाह्य पदार्थ का न था । एक बार किसी ने उससे कहा महाराज तुम खाते पीते हो तो कम से कम अपने पीने के लिए एक कटोरा तो रख लो । उसने बहुत मना किया, पर उसके बार बार कहने से रख लिया । एक बार वह अपना कटोरा किसी जगह भूल से छोड़ गया और जंगल में पहुंचा । तो जब वह ध्यान करने बैठा तो उसे अपने कटोरे का ध्यान आ गया । अब तो ध्यान के समय उसे वही कटोरा दिख रहा था । ध्यान में चित न जमा । तो देखिये थोड़ा सा भी परिग्रह धर्म साधना के लिए बाधक है । जब हम त्याग से हटकर ग्रहण में आवें तभी पता पड़ता है कि इस ग्रहण में बड़ा दुःख है ।

हे आत्मन्, यदि इस ग्रहण में (परपदार्थोंके आकर्षण में) सुख होता तो बड़े बड़े महापुरुष इन्हें छोड़कर त्याग मार्ग को क्यों अपनाते ? बड़े-बड़े पुराणपुरुषों के चरित्र हम आपके सामने आते हैं कि जब तक ये इन पर पदार्थों की ओर ग्रहण की बुद्धि किये रहे तब तक वे बड़े विह्वल रहे, पर जब उन्होंने अपने आपके चैतन्य स्वरूप की शरण ली, समस्त पर पदार्थों विषयक विकल्पों को तिलांजलि दे दी तब वे इस असार संसार सागर से पार हो गये । तो यह परमार्थ काम त्याग बिना कैसे बन जायगा ? ग्रहण करने के विकल्पों में पड़कर कैसे आत्मा का विकास हो सकेगा ? पंच परमेष्ठियों का स्वरूप इसी बात की तो याद दिलाता है, तभी तो हम आप उनकी भक्ति करते हैं, उनकी आराधना में रहा करते हैं । उनकी यह शान्तमुद्रा ही मानो यह शिक्षा दे रही है कि हे आत्मन् ! त्यागकर, त्यागकर,

त्यागकर। और यहाँ लोग क्या कह रहे हैं, ग्रहणकर, ग्रहणकर, ग्रहणकर। और भी प्रभु की मुद्रा क्या कह रही है ? मुझे शान्ति चाहिए, शान्ति चाहिए। और ये मोहीजन मानो क्या कह रहे हैं कि मुझे अशान्ति चाहिए, अशान्ति चाहिए, अशान्ति चाहिए। अब तीसरे विकल्प को उठाइये। मानों प्रभु यह कह रहे हैं कि हे आत्मन्, जब तक तुम धनवैभव आदिक बाह्य पदार्थों के संग्रह विग्रह में पड़े रहोगे, उनके प्रति अभिलाषायें बनाये रहोगे तब तक तुम्हारा परमार्थ काम बन नहीं सकता, और ये मोही जन मानो क्या कह रहे हैं कि अरे इन धन वैभव के बिना तो मेरा काम चल ही नहीं सकता है। और, भी एक विचार उठाइये। प्रभु कह रहे हैं कि इस धन सम्पत्ति में ही दुःख है, इस सम्पत्ति में ही दुःख है, और ये ही मोही जीव यही कहते हैं कि इसमें ही सुख है, इसमें ही सुख है। तो अब बताओ, जहां ऐसी विपरीत बातें बनी हैं वहां किसी के चित्तमें त्याग को बात घर कर सकती है क्या ? अरे इन खोटी अभिलाषाओं को, इच्छाओं को त्यागना होगा तब कहीं यह त्यागमार्ग का पाठ सीखा जा सकता है।

हम अपनी प्रभु भक्ति में कहते तो और कुछ हैं और चाहें कुछ और ही, तो कैसे उस अभीष्ट चीज की प्राप्ति हो सकती है ? जैसे पढ़ते हैं ना :-

जांचूं नहीं सुरवास पुनि नर राज परिजन साथ जी।
बुध जाचहूं तवभक्ति भव भव, दीजिये शिवनाथ जी॥

अर्थात् हे प्रभो, मैं इन स्वर्गों का वास नहीं चाहता, मैं राजा महाराजा, चक्रवर्ती आदिक के पद भी नहीं चाहता और न यहां कुटुम्बीजनों का साथ चाहता हूं। और, जब विनती पढ़ चुकते हैं तो क्या कहते हैं कि मेरी जो अमुक लड़की है ना उसकी शादी हो जावे, अथवा जो मेरा अमुक मुकदमा चल रहा है उसमें जीत हो जावे। शरीर का रोग ठीक हो जावे, आजीविका का साधन ठीक रहे, आदि लौकिक अभिलाषायें ही चित्त में बसाये रहते हैं। भला बतलाओ कहां तो प्रभु के समक्ष स्तुति करते समय क्या-बोलते हैं और अन्तर में क्या लौकिक फल चाहते हैं ? इस प्रकार अभीष्ट की सिद्धि न हो सकेगी। अरे यह त्यागधर्म हम आपको सिखाता है कि इन समस्त परपदार्थों का ममत्व त्यागकर अपने ज्ञान-साम्राज्य में निवास करो, उसी में निवास कर अपने अनन्त आनन्द को प्राप्त करो। हे प्रभो, मुझे ऐसी ही ज्ञानानन्दमय स्थिति चाहिए जैसी आपकी है। ये स्वर्गों के सुख राजपाट धन वैभव मुझे कुछ नहीं चाहिए, परन्तु जहां केवल अपने आपका ज्ञानस्वभाव

ही अपने उपयोग में रहता है बस ऐसी स्थिति की मुद्रा चाहिए इस प्रकार की जो अपनी आराधना, साधना, उपासना बनायेगा उसको ही विदित होगा कि इस त्याग धर्म में कितनी शान्ति विद्यमान है। तो त्याग धर्म के लिए ग्रहण के व्यापार से हटें और अपने त्यागमार्ग में आयें तभी त्याग धर्म के आनन्द का पता पड़ सकता है। मोही जीवों को तो इस त्याग के आनन्द की गंध भी नहीं मिल सकती है। आनन्द तो त्याग से ही प्राप्त होता है ग्रहण से नहीं। आनन्द प्राप्त करने का मार्ग तो निवृत्ति है न कि प्रवृत्ति।

जो स्वयं त्यागी नहीं है वह दूसरे को त्यागमार्ग का उपदेश ही क्या देगा ? और यदि उपदेश देगा भी तो उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। जो स्वयं ही ग्रहण सम्बंधी विकल्प बनाये हुए हो, यदि वह किसी को त्याग का उपदेश दे तो उसका असर कैसे दूसरों पर पड़ सकता है ? जैसे एक स्त्री अपने बच्चे को लेकर किसी साधु के पास आयी और बोली महाराज, मेरा बेटा मीठा बहुत खाता है, उसे कुछ ऐसी बात बता दो कि जिससे अधिक मीठा खाना छोड़ दे। तो साधू बोला–तीन दिन बाद आना तब बतायेंगे। वह स्त्री सोचती थी कि साधु महाराज कोई जंत्र मंत्र दे देंगे जिससे यह अधिक मीठा खाना छोड़ देगा, सो तीन दिन बाद फिर पहुंची, बोली महाराज मेरे बेटे को कोई बात बता दो जिससे यह मीठा खाना छोड़ दे। साधु फिर बोला–दो दिन बाद में आना, फिर दो दिन बाद में पहुंची, तो साधु बोला कि देखो तुम अपने बेटे को मीठा देना ही बंद कर दो, बस इसका मीठा खाना धीरे-धीरे छूट जायगा।–अरे महाराज यही बात कहनी थी तो बेकार ४-५ दिन टरका कर हमें हैरान क्यों किया ? पहिले ही यही बात कह देते। बेटी, मैंने स्वयं ही मीठा खाने का त्याग नहीं किया था, इससे मैं उसे त्याग का उपदेश देने का अधिकारी न था। जब मैंने स्वयं ही दो चार दिन अभ्यास करके उसका त्याग कर दिया तब मैं उपदेश देने का अधिकारी बना। तो वास्तव में त्याग का उपदेश देने का अधिकारी वही हो सकता है जो स्वयं त्याग मार्ग को अपनाये हो। उसी की बात का प्रभाव दूसरों पर पड़ सकता है।

त्यागमय जीवन ही एक आदर्श जीवन है। त्यागी पुरुष की मुद्रा ही हम आपको त्यागमय उपदेश दे देती है। भले ही वह त्यागी पुरुष मुखसे न बोले, त्यागी पुरुषों की मुद्रा क्या शिक्षा देती है कि हे आत्मन्, तू वमन की हुई चीज का पुनः ग्रहण करने की क्यों इच्छा करता है ? अरे यहां के विषयों के ये समागम, भोग साधन,

पंचेन्द्रिय के विषय न जाने कितनी कितनी बार भोग लिए होंगे। ये तो जूठन हैं। वमन किये हुए हैं। इनके पीछे तू क्यों बावला बन रहा है ? अरे वमन किये हुए भोज्य पदार्थ का कोई पुनः भक्षण करना ठीक समझता है क्या ? नहीं समझता, पर तू इन वमन किये हुए बाह्य पदार्थोंको ही पुनः अपनाने की चेष्टा कर रहा है तो यह तो तेरे लिए मूर्खता भरी बात है। अरे जब उनका त्याग कर दिया तो फिर उनका विकल्प क्या करना ? अब तो तेरा कर्तव्य है कि तू इन भोगे हुए पदार्थों का विकल्प तज और इस त्यागमार्ग में आरूढ़ होकर अपने जीवन को सार्थक बना।

त्याग करने का प्रयोजन यह न होना चाहिए कि मुझे प्रतिष्ठा मिले, मुझे सुखसाधन प्राप्त हों। त्याग करने का प्रयोजन है अपने आपके अनन्त आनन्द की प्राप्ति करना। एक दृष्टान्त पौराणिक है भर्तृहरि और शुभचन्द्र ये दोनों भाई राजपुत्र थे। सो भर्तृहरि को मिल गया कोई तापसी सन्यासी का आश्रम और शुभचन्द्र को मिले कोई निर्ग्रन्थ मुद्राधारी मुनिराज। सो दोनों भाई अपने गुरुवो के पास रहकर तपश्चरण करने लगे। उस तपश्चरणके प्रभाव से उनको ऋद्धियो की प्राप्ति हुई भर्तृहरि को तो स्वर्णरस प्राप्त हुआ और शुभचन्द्र को जो अनेक ऋद्धियां मिलीं उनका पता न उन स्वय को भी था और न दूसरो को ही इसका पता था। जब भर्तृहरि को स्वर्णरस की सिद्धि हो गई, तो उसकी खुशी का क्या ठिकाना था। जितना चाहे स्वर्ण वह बना सकता था। उसके मन मे एक बार आया कि मुझे अपने भाई शुभचन्द्र का पता लगाना चाहिए कि वह इस समय कहां पर है और कैसी स्थिति मे है। सो अपने शिष्यो को भेजकर पता लगा लिया। पता यह लगा कि वह तो अमुक स्थान पर बिल्कुल नग्न अकेला निर्जन स्थान मे दरिद्रता से वास कर रहा है, इसकी खबर जब भर्तृहरि को मिली तो कुछ स्वर्णरस एक तूमरी मे भरकर अपने शिष्य को दिया और कहा कि जाओ हमारे भाई को इसे दे देना और कह देना कि इसे तुम्हारे भाई ने भेजा है और इसमे जितना चाहे स्वर्ण बनाकर अपनी दरिद्रता मेट लो। सो पहुंचा शिष्य शुभचन्द्र के पास, ज्यो ही वह स्वर्णरस की तूमरी शुभचन्द्र को देना चाही त्योंही उन्होंने हाथ मे धक्का मारकर उसे गिरा दिया। सारा स्वर्णरस बह गया, वह शिष्य दु.खी होकर फिर भर्तृहरि के पास पहुंचा और बोला—महाराज वह तो दीनता के साथ साथ पागल भी हो गया है, क्योंकि उसने तो सारा स्वर्णरस ही जमीन में बहा दिया। भर्तृहरि ने सोचा—हां हो जाता है ऐसा कि दरिद्रता आने पर दिमाग भी खराब हो जाता

है। सो एक बार कुछ स्वर्णरस लेकर स्वयं ही भाई के पास पहुंचा और बोला भाई मुझे स्वर्णरस सिद्धि प्राप्त हुई है। इस स्वर्णरस की बूंद से छुवाकर जितना चाहे स्वर्ण तैयार किया जा सकता है। सो अब तुम दुःखी मत हो, इस स्वर्णरस को लो और इससे मनमाना स्वर्ण बनाकर अपनी दरिद्रता मेटलो। तो भाई की इस तरह की बातें सुनकर शुभचन्द्र बोल उठे—अरे यदि तुम्हें स्वर्ण की ही चाह थी इस पौद्गलिक वैभव की ही लालसा थी तो फिर राज्य क्यों छोड़ा था ? अरे राज्य पाट को छोड़ने का उद्देश्य तो था आत्मसिद्धि प्राप्त करना। और शुभचन्द्र ने क्या किया कि अपने पैर के नीचे से थोड़ी सी मिट्टी उठाकर पास की पाषाण शिला पर डाल दी तो वह सारी शिला स्वर्ण की बन गयी। इस बात को देखकर भर्तृहरि के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसी प्रसंग को लेकर शुभचन्द्र ने अपने भर्तृहरि के निमित्त ज्ञानार्णव ग्रंथ की रचना की और शुभचन्द्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। तो इस त्याग का प्रयोजन है शान्ति लाभ। आनन्द लाभ न कि यश प्रतिष्ठा, भोग साधनों की प्राप्ति आदिक। जहाँ शान्ति का प्रयोजन है वह ही त्याग प्रयोजनभूत है नहीं तो वह ढोंग है, पाखण्ड है। और, यह समझिये कि वह अपने आत्मा को ही ठगने का साधन बनाना है। जिसे शान्ति चाहिए उसे त्याग की धुन बनाना चाहिए, अपने को समस्त परपदार्थों के विकल्पों से हटाकर अपने ज्ञानस्वभाव में मग्न करना, यही वास्तविक शान्ति का मार्ग है। यही त्यागधर्म की बात है, इस त्याग के द्वारा ही जीवन की सफलता है, और इस त्याग की योग्यता भी इसी मनुष्य पर्याय में ही है। अन्य किसी भी पर्याय में त्यागधर्म की पात्रता नहीं बन सकती हम आपको आज ऐसी योग्यता मिली हुई है, तो इन समस्त धन वैभव आदिक पर पदार्थों का संसर्ग छोड़कर एक इस पवित्र त्यागधर्म को अपनायें और तीर्थ प्रवृत्ति चलायें। परपदार्थों के प्रति उठने वाले विकल्प विचार तरंगों को छोड़कर निर्विकल्प ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन लें, यही उत्तम त्याग है।

उत्तम त्याग यही है कि ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में बने रहें लेकिन अब यह बात हम आपसे नहीं बन पा रही है तो इस व्यवहारधर्म को अपनायें, इस व्यवहारधर्म में यथायोग्य दान करना आगम में बताया गया है। तीर्थ प्रवृत्ति के निमित्त चार प्रकार के दानों को यथाशक्ति करते रहना चाहिए। दान किसे कहते हैं, सो तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वामी महाराज ने कहा है कि 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गोदानं,' याने स्व और पर के उपकार के लिए जो भी अपनी सम्पत्ति का त्याग किया जाता है वह है दान। दान के चार प्रकार हैं —आहारदान, औषधिदान, ज्ञानदान और अभयदान। इन चारों प्रकार के दानों की निरन्तर प्रवृत्ति रखना चाहिए। सो इतनी

सावधानी अवश्य रखना चाहिए कि एक तो योग्यपात्र को ही दान देना चाहिए, तभी उसका वह सदुपयोग समझा जायगा नहीं तो उसका भी दुरुपयोग ही समझिये। दूसरे, आवश्यकतानुसार दान देना चाहिए, क्योंकि उसका सदुपयोग वहां पर ही हो सकेगा। इस प्रकार की जो गृहस्थ दान की प्रवृत्ति रखता है उसका ही दान देना फलीभूत होता है। कंजूस प्रवृत्ति के लोगों द्वारा बिना अंतरंग भावों के दिया गया दान फलीभूत नहीं होता है।

इस पाये हुए धन का सदुपयोग यही है कि हम उसका यथायोग्य दान करते रहें, ऐसा न सोचे कि अभी तो दान न करें, पर आगे चलकर जीवन के अन्तिम समय मे दान कर देगे। अरे जब तक शरीर समर्थ है तब तक उस पाये हुए धन का सदुपयोग करते रहो आखिर उसे अन्त मे छोड़ना तो पड़ेगा ही। तो उसे विवशता मे न छोडकर विवेकपूर्वक छोड़ने में ही अपनी भलाई है। नहीं तो अन्त में उस धन का वियोग होते समय बड़ा संक्लेश करना पडेगा। एक दृष्टान्त आया है कि कोई एक सेठजी थे, उनके चार लाख की जायदाद थी, सतान कोई थी नहीं, सिर्फ एक कन्या थी। एक बार सेठ बीमार हो गया, उसका बोल भी नहीं निकल रहा था। उसी कमरे मे एक गाय की बछड़ी बंधी हुई थी और वह उसी जगह पर पडी हुई एक झाडू को मुख मे भरे हुए चबा रही थी, सेठने उसे झाडू चबाते देखा, तो उसके मन मे आया कि लड़की को बुलाकर कह दें कि इस झाडू को इस बछड़ी के मुख से छुड़ा दे, सो कन्या को इसारे से बुलाया और हाथ के इसारे से बछड़े की ओर को सकेत किया। तो वह कन्या उसका सही सही अर्थ न समझ सकी। उसने यह अर्थ लगाया कि पिताजी का यह कहना है कि हमारा तो अन्तिम समय आ गया है। देखो यहा इस जगह धन गड़ा है सो उसने झट उस जगह खुदवाना प्रारम्भ कर दिया, पर वहा कहा धन था ? उस दृश्य को देखकर सेठ मन ही मन बहुत दु:खी हो रहा था पर वह बोल नहीं सकता था सौभाग्य से जब सेठ ठीक हो गया तो कन्या से पूछा—क्यो बेटा तुमने यह सारा कमरा क्यो खुदवा डाला ? तो उसने सारा हाल बताया। तब वह सेठ अपनी कन्या से कहता है कि यहाँ धन गड़ा है इसलिए मैने इसारा नहीं किया था, किन्तु कोने मे रखे हुए झाडू को गाय की बछड़ी चबा न डाले सो झाडू की रक्षा के लिए संकेत था। तो यह धन वैभव तो बिछौह होने पर, नष्ट होने पर, बरबाद होने पर दु:ख का ही कारण बनता है। अत: इससे ममत्व छोड़कर व इसको जीवन मे यथायोग्य दान देकर इसका सदुपयोग कर लेना ही भली बात है।

देखो नदी निर्मल रहती है त्याग से। यदि नदी अपने उस समस्त जल प्रवाह को एक जगह संग्रहीत करती तो उसका जल गंदा रहता, पर वह तो उस जल को बहाती रहती है। इसीलिए उसका जल निर्मल बना रहता है। अथवा जैसे यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि अगर कुवें से जल खिंचता रहे तो कुवें का जल स्वच्छ रहता है अगर न खिंचे, न निकले तो वह जल गंदा हो जाता है इसी तरह अपनी कमाई हुई सम्पदा का सदुपयोग यही है कि उसका यथायोग्य दान करते रहें, अपने चित्त में उदारता का भाव रखें।

देखिये—आजकल इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि जगह जगह धार्मिक शिक्षण केंद्र खोले जावें और इनके पीछे जो भी खर्च हो उसकी पूर्ति समाज के दान दातारों के द्वारा की जाय। यदि इस ओर समाज का ध्यान गया तो यह उनके लिए एक बहुत बड़ी देन होगी। धर्म की परम्परा आगे चलती रहे इसके लिए धार्मिक शिक्षा केन्द्र खोलना आवश्यक है। नहीं तो आज के इस भौतिक वाद में न जाने इस उत्तम जैन धर्म की क्या गति होगी ? आज तो लोगों के हृदय से धार्मिकता की आस्था ही घटती जा रही है। लोगों के हृदय में बेईमानी, अन्याय, अत्याचार आदि की बातें घर कर रही हैं, यही कारण है कि आज अपना देश पतन की ओर है। अभी तक जो भारत देश की प्रतिष्ठा अन्य देशों में भी होती थी वह किस बात से होती थी ? अरे यहां के नेता लोगों के अन्दर एक त्यागमय (बलिदानमय) अहिंसामय, सत्यमय भावना थी, पर आज इस भारत देश की क्या दशा हो रही है। नेताओं के अन्दर, अग्रकार्यकर्ताओं के अन्दर समस्त देशवासियों के अन्दर धार्मिकता, सदाचार, न्यायनीति का लोप हो रहा है। यही है हमारी दुर्दशा का कारण। इतनी ही नहीं, और अन्य लोग भी इसे हड़पने की बात सोचा करते हैं। तो आज के इस बढ़ते हुए भौतिकवाद में धार्मिक शिक्षण संस्थायें खोलकर बच्चों में धर्म संस्कार डालने चाहिए। इन धार्मिक संस्थाओं के लिए साधर्मी बन्धुओं को चाहिए कि वे यथायोग्य दान देते रहें। दान देते समय इतना विवेक अवश्य रखें कि योग्य पात्र को दान दिया जाय और आवश्यकतानुसार दान दिया जाय। तो इस त्याग धर्म के दिन मूल में इतनी बात ग्रहण करना है कि इस जीवन का कुछ ठिकाना तो है नहीं कि यह कब समाप्त हो जाय। इसलिए परवस्तुओं के ग्रहण संचय आदिक के विकल्प छोड़कर उत्तम त्याग धर्म को अंगीकार किया जाय, इससे खुद के जीवन का भी प्रकाश होगा, साथ समाज और देश का भी उत्थान होगा।

देखिये न यह धन सदा पास में रहेगा और न यह धन का देने वाला (दातार) भी सदा यहां रहेगा। आखिर विछोह सबका होना ही है, इसलिए यह आवश्यक है कि इस आजके पाये हुए धन का यथाशक्ति दान देकर उसका सदुपयोग करें। एक बादशाह ने (अकबर बादशाह ने एक बार अपने मंत्री (बीरबल) से प्रश्न किया कि ए मंत्री तुम एक बात बताओ कि मेरे हाथों की दोनों हथेलियों में रोम क्यों नहीं है, और जगह तो हैं। तो मंत्री चतुर था, वह बोला महाराज आपके हाथों की हथेलियों के रोम दान देते देते झड़ गये हैं–अच्छा, और तुम्हारे हाथों की हथेली में रोम क्यों नहीं है ?–महाराज हमारे हाथों की हथेलियों के रोम दान लेते लेते झड़ गये है। अच्छा दरबार में बैठे हुए सभी लोगोंके हाथोंकी हथेलियोंमें रोम क्यो नहीं हैं ? तो मंत्री बोला-आपने दान दिया, हमने दान लिया और ये सब यो ही हाथ मलते मलते रह गये इसलिए इनकी हथेलियोंके रोम हाथ मलते मलते ही झड़ गये। तो भैया, कहने का अर्थ यह है कि यह धन तो' छोड़ना ही पड़ेगा। इस धन के पीछे हैरान होने से, उसके सचय की बुद्धि बनाये रहने से लाभ कुछ न मिल पायगा, आखिर हाथ मलते ही रहना होगा। तो अच्छा यही हैं कि आज के इस पाये हुए धन सम्पत्ति के समागमो का यथायोग्य दान देकर इसका सदुपयोग करें।

एक बार एक राजमाता ने अपने बेटे से कहा बेटे यह जो सामने पहाड़ दिख रहा है ना इतना बड़ा यदि इतना धन का ढेर तुम्हारे सामने रख दिया जाय तो तुम उसे कितने दिन में दान कर दोगे ? वह राजपुत्र बोला-मां हम तो उसे एक मिनट में ही दान कर देंगे, परन्तु ले जाने वालें की गारंटी नहीं कहते कि वे कितने दिनों में उसे उठाकर ले जाये। तो भावना अपनी होना चाहिए उदारता की। इन धन-वैभव का उपयोग भोगों के लिए, सांसारिक मौजों के लिए, सांसारिक ऐश आरामो के लिए न करे, इसका सदुपयोग है दान देने में। धन का दान देकर इसे बटवीजवत धर्म के आयतनों में बो दे तो अवसर पाकर यह बड़ा लाभ देगा। जैसे बट का बीज पाकर वह बहुत बड़ा वृक्ष तैयार हो जाता है और उससे असंख्यात गुने बीजो की उत्पत्ति हो जाती है। ठीक ऐसे ही इस धन को धर्मायतनों में दान देकर बो दिया जाय तो वह कभी बहुत बड़े फल को दे देता है।

श्रद्धापूर्वक दिया गया दान ही लाभकारी होता है। अतः अभी से अपनी शक्ति माफिक यथायोग्य दान करने की अपनी वृत्ति रखो, क्योंकि आज तो यह शरीर

समर्थ है, जीवन के अन्तिम दिनों में न जाने क्या से क्या घटना बीते। कहो दान देने के भाव होते हुए भी दान न कर सकें अतः हम आगे चलकर दान करेंगे, ऐसा सोचना ठीक नहीं। उचित यही है कि अभी से यथाशक्ति दान करने की अपनी वृत्ति रखें। एक दृष्टान्त है कि एक सेठ था, उसके चार बेटे थे। जायदाद ५ लाख की थी। सो कुछ दिनों मे उन सब बेटों को एक एक लाख की जायदाद बांट दी और अपने लिए भी एक लाख की सम्पत्ति रख लिया। जब सेठ मरणासन्न दशा को प्राप्त हुआ, बोल भी बन्द हो गया तो कुछ पंच लोग आये बोले-सेठजी अब तो आपका अन्तिम समय है, तो जो भी दान पुण्य करना हो कर जावो। तो सेठ हाथ के इसारे से दीवाल की ओर संकेत करता है। उसका मतलब यह था कि इस दीवाल में जितना भी मेरा धन गड़ा है वह सब इन धार्मिक संस्थाओ को दांन करता हू। मगर उसके सकेत का अर्थ पंच लोग न समझ सके। बेटों को बुलाया और उनसे पूछा कि देखो पिताजी क्या कह रहे है। तो बेटे कहते है कि पिताजी भीट की ओर इशारा करके यह फरमा रहे है कि हमारे पास सो जो भी धन था वह सब इन भीटो के बनाने मे लगा दिया। बेटों की बात सुनकर वह सेठ मन ही मन कुड़ रहा था, पर क्या करे ? बोल सकता नहीं था। तो देखिये अन्त मे दान करने का भाव होते हुए भी सेठ दान न कर सका। तो हम आपको भी आवश्यक है कि ऐसा न सोचें कि अन्त में सब दान कर देंगे। अरे अभी से ही जो कुछ हो सके दान करते रहना चाहिए।

देखिये इन बाहरी वैभव आदिक समागमों के होने अथवा न होने पर निर्धनता और धनिकता निर्भर नही है, क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि जो यहां कोई बड़ा धनिक है वह यदि अपने मन मे तृष्णा बसाये हुए है, पर पदार्थों का संग्रह विग्रह संचय करने का ही लोभ चित्त मे बसाये हुए है तो वह तो रात दिन दुःखी रहता है। उसके समान निर्धन और किसे कहा जाय ? और यदि कोई यहां ऐसा है कि जिसके पास मामूली सी ही स्थिति है, किसी तरह से अपना गुजारा चलाता है, पर अन्तः तुष्ट है, संतुष्ट है, तो वह महा धनिक है। एक दृष्टांत है कि कोई मुनिराज जंगल में तपश्चरण कर रहे थे। उनकी निर्ग्रन्थ मुद्रा देखकर राजा ने सोचा कि यह तो बहुत दरिद्र हैं। इसके पास कुछ नहीं है। हमे इसकी मदद करना चाहिए। तो राजा ने अपने चपरासी को १०००) देकर कहा-जाओ अमुक दरिद्री को ये रुपये दे आओ। जब चपरासी पहुँचा और मुनिराज से बताया कि राजा ने तुम्हारे लिए १०००) भेजा है इन्हें लो और अपनी दरिद्रता मेट लो। तो मुनिराज

बोले-इन्हें गरीबों को बांट दो। चपरासी लौटकर राजा के पास पहुँचा—बोला महाराज वह दरिद्री तो कहता है कि इन्हें गरीबों को बांट दो। तो राजा ने सोचा कि शायद ये रुपये कम हैं इसलिए इस तरह से कह दिया है। दूसरी बार २०००) देकर चपरासी को भेजा तो उस बार भी वही उत्तर मिला। फिर चपरासी राजा से जाकर वही बात कहता है। तो राजा सोचता है कि हमने चपरासी को भेजा है इसलिए वह दरिद्री इन रुपयों को न ले रहा होगा। तो इस बार राजा स्वयं ही २ लाख रुपये लेकर पहुँचा और कहा कि ये रुपये लीजिये और अपनी गरीबी दूर कर लीजिये। तो मुनिराज ने फिर वही बात कही कि ये रुपये गरीबों को बांट दो। अरे तुमसे अधिक गरीब और कौन मिलेगा ? अरे राजन् तुम हमें नही जानते, हम तो श्रीमन्त हैं, हमारे पास अनन्त वैभव का खजाना है। —अरे कहां है ? वह अनन्त वैभव का खजाना, मुझे चाभी दे दो। मैं भी जाकर देख लूं। अरे कुछ दिन यहां रहना होगा तब उसे देख सकोगे। हां हा रहेंगे। जब कुछ दिन मुनिराज के पास वह राजा रह लिया, कुछ धर्म का उपदेश मुनिराज उसे देते रहे। कुछ दिन बाद मुनिराज बोले—अच्छा अब तुम्हें देखना है हमारा खजाना। —हां हा, अच्छा हमारा जैसा ही बन जावो। (राजा ने सोचा कि विधि ही यही होगी खजाना देखने की) तो राजा मुनि बन गया। कुछ दिन तक वह उपदेश सुनता रहा। फिर कुछ दिन बाद में मुनिराज बोले—राजन् अब तुम्हें चाहिए धन सम्पदा ? तो वह पूर्वराजा बोला—नही अब नही चाहिए। वह वैभव अब तो मुझे अपने अनन्त वैभव सम्पन्न अन्तः साम्राज्य का पता पड़ गया। मुझे रत्नत्रय के खजाने का पता पड़ गया। तो देखिये—किसी की बाहरी स्थिति को देखकर यह निर्णय नही दिया जा सकता कि यह श्रीमन्त है अथवा दरिद्र। ये तो बाह्यस्थितियां है उसकी निर्भरता तो अंतरंग भावों के आधार पर है।

तो हमारी दृष्टि ऐसी बने कि जहा इन बाहरी पदार्थो की चाह न हो, इनके प्रति मूर्छा, ममता, तृष्णा न हो। उनसे लिप्त न हों, क्योकि इन पर पदार्थों का संग क्रम आपके लिए महान दुःखदायी है। अगर यहां पर पदार्थों का संग दुःखदायी न होता तो बड़े बड़े तीर्थंकर चक्रवर्ती आदिक महापुरुष उन्हें छोड़कर निर्ग्रन्थता को क्यों अंगीकार करते। और यह वैभव लक्ष्मी तो ऐसी है कि इसको छोड़ा तो यह पीछे लगती है, और ग्रहण करो तो यह दूर भागती है। देखो ना जब तीर्थंकर देव, इन समस्त विभूतियों को छोड़ते है तो कैसी वह साथ लगी फिरती है, पीछा नहीं छोड़ती है। देखिये समवशरण में कितनी कितनी विभूतियां होती हैं। पर

प्रभु उसके चारं अंगुल ऊपर उससे अलिप्त रहते हैं। बैठने की ही बात क्या, प्रभु जब विहार करते हैं तो उस समय भी यह लक्ष्मी आगे आगे चलती है। तो यह सब माहात्म्य उनके त्याग का है। इस धन का त्याग करने से इस लोक में भी अपना भला होता है और परभव के लिए भी अपना भला होता है। इसलिए हमें चाहिए कि इस त्यागधर्म को अपनावें, इस त्यागधर्म की ही आराधना करें और उसकी ही उपासना करके अपने को उज्ज्वल बनायें।

हालाँकि इन धन वैभव आदिक बाह्य पदार्थों में कुछ ऐसी ही कला है कि जिससे बड़ों बड़ों का मन ललचा जाता है। साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है। बड़े बड़े ज्ञानी पुरुषों तक का मन उसके पीछे बिगड़ जाता है, पर विवेक यही है कि इनको मायामयी असार, अहित करने जैसा समझकर इनकी उपेक्षा करें। उनका त्याग करे, इसी मे हम आपकी भलाई है। जैसे कि एक दृष्टान्त दिया है कि एक बार गुड़ भगंवान के पास गया (होगे कोई वैसे ही भगवान) और बोला–महाराज हम पर बड़ी विपत्ति है–क्या विपत्ति है ? अरे जब हम खेतों में खड़े थे, गन्ना के रूप मे थे तो लोगों ने मुझे पटा पटा करके चूसा वहां से बचे तो कोल्हू में पेलकर मुझे पिया, फिर राब बनाकर खाया, फिर गुड़ बनाकर खाया। और फिर वहां से भी बचे तो लोगों ने तम्बाकू में डाल डालकर खाया, तो महाराज हम पर बड़ी विपत्ति है, इसका आप न्याय करें। तो भगवान बोले–तुम्हारे लिए न्याय यही है कि तुम मेरे सामने से हट जाओ, क्योंकि तुम्हारी बातें सुनकर मेरे मुख में भी पानी आ गया। तो बात यह कही जा रही है कि यह धन वैभव, ये बाह्य मायामयी पदार्थ होते है ऐसे कि जिनकी ओर बड़े बड़े लोग भी आकृष्ट हो जाते है, पर विवेक पूर्वक इन्हें त्यागने मे ही हित है।

आज उत्तम त्याग का (दान) दिन है। अतः चारों प्रकार के दानों का (त्यागो का) फल दृष्टान्तपूर्वक बताते है।

१–आहार दान का फल–रत्नसंचयपुर के राजा श्रीषेण बड़े धार्मिक पुरुष थे। एक बार उन्होने दो मुनियो को (आदित्यगति और अरंजय) बड़ी श्रद्धा भक्ति से आहार दान दिया। तो देवों ने प्रसन्न होकर अपार रत्न वर्षा उनके घर के आंगन में की और श्रीषेण राजा षोडश कारण भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर, प्रकृति का बन्ध करके सोलवे तीर्थंकर शान्तिनाथ हुए। भगवान शान्तिनाथ तीर्थंकर थे, कामदेव थे और चक्रवर्ती थे। तो आहार दान की ऐसी महिमा है। अतः प्रत्येक श्रावक को योग्यपात्र को आहार दान करके अपना कल्याण करना चाहिए।

२–औषधिदान का फल–अर्द्धचक्री नारायण कृष्ण की राजधानी द्वारिका में एक मुनि पधारे। उन्हें कोई भीषण रोग हो गया था। कृष्ण को उनका रोग देखकर बड़ा दुःख हुआ था। इस चिन्तन में पड़ गये कि मुनिराज का रोग अब कैसे दूर हो। आखिर एक वैद्य ने एक दवा दी और कहा इसे लड्डू में दे देना। सो कृष्ण ने उस दवा वाले बहुत लड्डू बनवाकर सारे नगर में बटवा दिये, इसलिए कि मुनिराज चाहे नगर के किसी भी घर आहार करें, वहां लड्डू का ही आहार दिया जायगा। सारे नगर में यह सूचना कर दी गई कि मुनिराज जिस घर भी जावें, उन्हें लड्डू का अहार दिया जाय। अब मुनिराज जिस घर जावें उसी घर लड्डू मिलें। फल यह हुआ कि ८ ही दिनों में उनका रोग दूर हो गया। तो रोग जैसे जैसे दूर होता जाता था वैसे ही वैसे कृष्ण के मन में हर्ष बढ़ता जाता था। वे निरन्तर षोड्शकारण भावना भाते रहते थे। फलतः उस औषधिदान के निमित्त से उनको तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। तो औषधिदान का यह माहात्म्य है। अतः योग्य पात्र को इस उत्तम औषधिदान को देकर पुण्य फल का संचय करना चाहिए।

३–शास्त्रदान–कोई एक गोविन्द नाम का ग्वाला था। उसे कहीं से एक ग्रन्थ किसी जंगल में वृक्ष को कोटर में मिल गया था। उस ग्रन्थ को उसने पद्मनन्दी मुनि को दे दिया था सो उसे ग्रन्थ को भेंट करने के फलस्वरूप वह आगे चलकर कुन्दकुन्दाचार्य देव बना और श्रुतकेवली बना। तो शास्त्रदान की ऐसी अद्भुत महिमा है। अतः प्रत्येक कल्याणार्थी को शास्त्रदान करने का भाव होना चाहिए।

४–अभयदान का फल–अनंगसरा नाम की एक राजकन्या थी। उसे कोई विद्याधर हर ले गया था। वह विद्याधर मार्ग में लिए जा रहा था तो कुछ लोगों ने देखा और उसका पीछा किया। तो एक भयानक जंगल में विद्याधर उस कन्या को छोड़ गया था। उस जंगल में उस कन्या ने ३००० वर्ष बिताये। बाद में जब उसके पिता को पता चला, आया, तो देखा कि वह तो अजगर सर्प के मुख में थी। शरीर का आधा अंग अजगर सर्प निगल गया था। जिस समय उसके पिता ने उस सर्प को मारकर अपनी कन्याको बचाने का प्रयत्न किया तो उस कन्या ने उस अजगर सर्प को अभयदान दिया। बोली–इस भोले जीव को मत मारो। आखिर उस अभयदान का फल यह हुआ कि मरकर वह विशल्या बनी। जिसका

इतना माहात्म्य था कि जिसके शरीर के स्पर्श किये हुए जल से स्नान करने से सब रोग दूर हो जाया करते थे। तो यह था उसके अभयदान का फल। अतः प्रत्येक कल्याणार्थी को अभयदान देकर अपने जीवन को कल्याण के पथ पर लगाना चाहिए। देखिये बिना दान दिये तो किसी के जीवन की गाड़ी ही नहीं चल सकती।

अरे संसार दुःखों से भरा है, तीर्थंकर आदिक ने इसका त्याग करके शिव का साधन बनाया। कहा भी है कि

जो संसार विषै सुख है तो, तीर्थंकर क्यों त्यागै ?
काहे को शिव साधन करते, संयम सों अनुरागै ॥

बिना त्याग किये तो यहां भी कोई काम नहीं चलता। एक दृष्टान्त आया है कि किसी साधु को एक नदी पार करके किसी नगर जाना था। उसके पास नाविक को नदी पार उतराई के लिए पैसे देने को नहीं थे। सो वह वहीं नदी के किनारे खड़ा था। इतने में कोई भक्त पुरुष आया उससे साधु बोला–भैया हमें अमुक गांव जाना है, नदी पार करने के लिए हमारे पास पैसे नहीं हैं ? तो भक्त ने कहा हम नाविक को पैसे देंगे, आप हमारे साथ चलें। तो दोनों नदी पार हो गये। आगे चलकर वह भक्त कहता है कि महाराज आप तो एक त्यागी हैं, साधु हैं और आप ही उपदेश में कहा करते हैं कि त्याग से संसार समुद्र को पार कर लिया जाता है, पर आप तो एक छोटी सी नदी भी न पार कर सके, तो क्या कारण है ? तो साधु बोले-अरे तुमने चार आने पैसे त्यागे तो इस त्याग की वजह से ही तो नदी पार हुए। भक्तको समझ में आ गया। त्याग से ही सर्वकार्यों की सिद्धि होगी। त्यागमय जीवन ही वास्तविक जीवन है।

अन्त में एक विशेष बात यह कहनी है कि बड़े लोगों की देखा देखी ही छोटे लोग करते हैं। अस्तु आप लोगों को त्यागमार्ग में बढ़ना चाहिए। आज साहित्य प्रचार और शिक्षादान की बहुत अधिक आवश्यकता है ताकि विदेशों में भी साहित्य प्रचार हो। जगह जगह बालधर्म-शिक्षासदन खोले जावें, इसलिए ज्ञानदान की प्रवृत्ति करनी है। इस ज्ञानदान से केवल-ज्ञान की प्राप्ति होती है। धर्म के मार्ग पर चलने से ही शान्ति मिलेगी, धन सम्पत्ति आदिक बाह्य पदार्थों के मिलने से नहीं। संसार में जो भी दुःखी जीव हैं उन्हें दान देकर उनका दुःख दूर करें। जो त्यागी पुरुष

हैं उनका विशेष सत्कार करें और इन बाह्य क्रियाओं के अतिरिक्त सबसे प्रधान बात यह है कि आत्मा का निसंग स्वरूप पहिचानकर अपने असाधारण ज्ञानस्वभाव को लक्ष्य में रखें। यही उत्तम त्याग है। पूजन में भी पढ़ते हैं–

दान चार प्रकार, चार संघको दीजिये।
धन बिजली उनहार, नरभव लाहो लीजिये॥
उत्तम त्याग कह्यो जग सारा, औषधि शास्त्र अभय आहारा।
निहचै रागद्वेष निरवारै, ज्ञाता दोनों दान सम्हारे॥
दोनों संभारे कूप जल सम, दरब घर में परिनया।
निज हाथ दीजे साथ लीजे, खाय खोया बह गया॥
धनि साध शास्त्र अभय दिवैया, त्याग राग विरोध को।
बिन दान श्रावक साधु दोनों, लहैं नाहीं बोध को॥

(ॐ ह्री श्री उत्तम त्याग धर्मांगाय नमः)

उत्तम आकिंचन्य

आज आकिंचन्य धर्म की बात चलेगी। 'न किंचन: इति आकिंचन:, तस्यभाव: आकिन्चन्यं,' मेरा मेरे से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इस भाव को कहते हैं आकिंचन्य। यह उत्तम आकिंचन्य धर्म उन ही जीवों के होता है जिन्होंने समस्त प्रकार के बाह्य और अंतरंग परिग्रहों का त्याग करके अपने आपके विशुद्ध ज्ञानस्वरूप को दृष्टि में लिया है, अनुभव में लिया है, ऐसे जो परम निर्ग्रन्थ मुनि हैं उनके यह उत्तम आकिंचन्य प्रकट होता है, अर्थात् इस ज्ञान दर्शन स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा नहीं है। अन्य किसी भी परद्रव्य का मैं कुछ भी नहीं हूं, ऐसे अनुभव को आकिंचन्य कहते हैं। आत्मा जो अन्य परपदार्थों से चाहे वे चेतन हों अथवा अचेतन, ममता कर रहा है, यह सब अज्ञानता की बात है, और इस अज्ञान भाव के कारण ही हम सकिंचन बनकर यत्र तत्र डोल रहे हैं, ममता से किसी को अपना मान रहे हैं। तो ऐसी खोटी मान्यता से वह पर अपना नहीं बन सकता, प्रत्येक वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि कोई पदार्थ किसी पदार्थ का कुछ लगता नहीं है। सब पदार्थ अपना अपना न्यारा न्यारा स्वरूप रख रहे हैं। जितनी भी वस्तुयें हैं संसार में वे सब स्वतंत्र हैं, निराली निराली हैं, भिन्न भिन्न हैं। अपने आपके आत्मस्वभाव का कुछ निर्णय करें। यह मैं आत्मा किस परस्वरूप हूं, अथवा किसी परआत्मा के साथ इस मुझ आत्माका क्या सम्बन्ध है ? और उस पर ममता बुद्धि करके अकिंचन बना हुआ हूं, और उससे फिर दु:ख प्राप्त कर रहा हूं।

जीव की सबसे अधिक निकटता है इस शरीर से। इस शरीर से भिन्न अपने आपके ज्ञानदर्शन स्वरूप को दृष्टि में लो, यह शरीर तो रूप रसगंध स्पर्श का पिण्ड है, पौद्गलिक है, आहार वर्गणाओं से निर्मित है, यह मेरा स्वरूप नहीं हो सकता। और मैं इस शरीर से भिन्न ज्ञान स्वरूप मात्र हूं। ज्ञान पुंज हैं। ऐसे अपने आपके विविक्त ज्ञान स्वरूप का अनुभव में लेना, प्रतीति में लेना इसे कहते

है आकिंचन्य। जिसको यह आकिंचन्य धर्म होता है उसका बाह्य फलित अर्थ यह हुआ करता है कि इन बाह्य परिग्रहों का अभाव हो जाता है। छूट जाते हैं ये बाह्य परिग्रह और बाह्य परिग्रह से छूटने से कुछ यह भी अभ्यास होता है कि वह अंतरंग परिग्रहों को भी त्यागने का उद्यमी बनता है। यह बात यहां नहीं बन सकती कि केवल बहिरंग परिग्रह ही छूटे हों। अरे ये बाह्य परिग्रह भी अतरंग परिग्रह त्याग से छूटते हैं और अंतरंग परिग्रह भी बहिरंग परिग्रह त्यागपूर्वक छूटते हैं। इस प्रकार के अपने आपके निष्परिग्रह स्वरूप को दृष्टि मे लेना कि मेरा लोक में कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। जब यह शरीर भी मेरा नहीं है तो फिर अन्य कोई पर पदार्थ तो मेरा हो ही कैसे सकता है ? ऐसे अपने आपके आत्मा के स्वरूप को दृष्टि में लेकर समस्त प्रकार के परिग्रहों से पृथक् अपने इस ज्ञान ज्योति मात्र स्वरूप को दृष्टि में लेना, यही होता है यह आकिचन्य धर्म। बार बार चिन्तन कीजिये इस आकिंचन्य भाव को। आकिचन्य स्वरूप की यही भावना हो तो फिर ये दुःख न रहेंगे। आज संसार में हम आपकी जो ये नाना दुःख भरी दशायें दिख रही है इनका मूल कारण क्या है ? यही है कि हम आपने अपने को अभी तक सकिचन अनुभव किया, अपन आकिचन्य स्वरूप का अनुभव नहीं किया। यहां अपने आपके इस ज्ञानदर्शन स्वरूप के अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है। ये दिखने वाले समस्त मायामयी पदार्थ तो पौदगलिक पिण्ड है, ये मेरे कुछ नहीं है, पर पदार्थों को ही मान लिया कि ये मेरे है, मै इनका हूं, अथवा इन ही रूप मै हूं, बस इस प्रकार के सकिंचन भाव बना लेने के कारण ही तो आज हम आपकी ये दशायें हो रही हैं। अब तो ऐसा निर्णय बना लीजिये कि लोक में परमाणु मात्र भी मेरा कहीं कुछ नहीं है। मै तो एक हूं, ऐसा एक हूं कि इस एकत्व स्वरूप में किसी अन्य का प्रवेश न आज तक कभी हुआ न हो रहा है और न कभी हो सकेगा। ऐसा समस्त परभावों से और परपदार्थो से पृथक जो अपने आपके इस अकिंचन स्वरूप को दृष्टि मे लेता है उसे ही अपने उस परमात्म तत्व के दर्शन होते है।

गुणभद्राचार्य स्वामी ने एक जगह आत्मानुशासन में शिष्य के ऐसा प्रश्न करने पर कि महाराज हमे तो संक्षेप मे बता दीजिये कि परमात्म तत्व की प्राप्ति का रहस्य क्या है ? जिनेन्द्र भगवान बनने का उपाय क्या है ? उसके उत्तर में गुणभद्राचार्य जी कहते हैं कि—

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥

अर्थात् वे कहते हैं कि अकिंचनोऽहं इस भाव को लेकर तुम बैठ जाओ एकान्त में। अपने आपको ऐसा चिन्तन करो कि अकिंचनोऽहं अर्थात् इस ज्ञान दर्शन स्वरूप मुझ आत्मा के अतिरिक्त लोक में परमाणु मात्र भी मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं हूं, अपने स्वरूप से हूं अपने ही स्वरूप से परिणमता हूं, ऐसा अपने आपके आकिंचन भाव को अपने प्रत्यय में लेकर कुछ क्षण के लिए विश्राम से बैठ तो जाओ बस यही त्रैलोक्याधिपति बनने का उपाय है। देहातों में जैसे कहते हैं ना कि टन्नाकर बैठ जाओ, ऐसे ही यहां अकिंचनोऽहं, इस भाव को लेकर ही टन्नाकर बैठ तो जाओ। जैसे बच्चे लोग कभी रिसा जाते हैं किसी बात से तो वे टन्नाकर बैठ जाते हैं, उनकी मां बहुत समझाती है, पर वे उसकी बात नहीं सुनते। ठीक इसी तरह से इस अकिंचनोऽहं भाव का चिंतन करने के लिए टन्नाकर बैठ जाओ। उतने समय तक किसी भी परपदार्थको अपने उपयोगमें न आने दो, बस यही चिन्तन निरन्तर चलता रहे कि इस लोक में परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। मै तो मात्र ज्ञान स्वरूप हूं, एक हूं, अनन्त आनन्द का पिण्ड हूं, बस इस चिंतन मे टन्नाकर बैठे रहने का इतना अधिक प्रताप है कि यह भाव त्रैलौक्याधिपति बना देगा। योगियों ने परमात्मा होने का रहस्य यह ही कहा है।

इसके विपरीत अज्ञानीजनों के भाव देखिये कि उनकी दृष्टि बाह्य पदार्थोंकी ओर रहती है। वे मानते हैं कि ये परद्रव्य तो मेरे हैं, मैं इनका हूं, अथवा इन जैसा ही तो मैं हूं। यों उनकी इस तरह की भावना होने के कारण उनके पीछे जीवन भर दुःखी रहा करते हैं। अरे इन मिथ्या मान्यताओं को अपने अन्दर से निकालना होगा, और ऐसा भाव बनाना होगा कि मेरा कहीं कुछ नहीं है, मैं तो अपने आपके एकत्व में सदा रहता हूं और रहूंगा, ऐसी अपने आपमें ज्ञान भावना जगा करके स्थिर होना है, इसी के यत्न में लगना है ऐसी ही तल्लीनता बनाना है। जितने भी जीव आजतक निर्वाण को प्राप्त हुए हैं इसी उपाय से हुए हैं, और हमें भी यदि निर्वाण जाना है तो हमें चाहिए कि हम भी यही उपाय करें कि मेरा यहां कहीं कुछ नहीं है। अभी हम आप यहां बैठे हैं, सोच लीजिये कि हम आपको कौन यहां पकड़े हैं ? कौन बांधे हैं और कौन है यहां हम आपका ? पर आप ही मिथ्या कल्पनायें बनाकर अपने को परतंत्र अनुभव करते हैं। आप मानते हैं कि मैं अमुक का पिता हूं, अमुक जाति का हूं, अमुक नाम वाला हूं, ऐसे रूप का हूं, इस कुल वाला हूं, ऐसे परिवार वाला हूं, ऐसे ठाठ वाला हूं, ऐसी पोजीशन वाला हूं, मूर्ख हूं आदि, बस इस ही मिथ्या मान्यताओं के कारण ऐसी पर्यायबुद्धि के कारण आप अपने को परतंत्र अनुभव कर रहे हैं। दुःखी बना रहे हैं।

अरे इस पर्याय बुद्धि को अपने आपके स्वरूप के एकत्व में मत जोड़ो, यही जोड़ना है मूल में परिग्रह। परिग्रह का लक्षण है। 'मूर्छा परिग्रहः' इस मूर्छा परिणाम का होना ही इस जीव का परिग्रह है। पर पदार्थों के प्रति इस प्रकार का आशय रखना कि ये मेरे हैं, यही तो परिग्रह है। देखो ना इस ममेदम् भाव के कारण ही तो यह दुःखी वना हुआ है। इस पर जन्म मरण के संकट चल रहे हैं। बात तो है जरा सी और उसका परिणाम कितना भयंकर मिल रहा है कि ज्ञानानन्द स्वरूपी आत्मा होकर भी आज भव भव में नाना कुयोनियों में पड़कर दुर्गतियों का पात्र बनता फिर रहा है और महा दुःखद यातनायें सह रहा है। बात तो जरा सी और संकटों का भार लाद लिया। वह बात जरा सी कौन सी है ?—भ्रम।—अरे आत्मन् अब तो अपने आप पर कुछ करुणा करो। अपने आप पर करुणा यही है कि जिस भ्रम के कारण आज इतनी इतनी यातनायें सहन करनी पड़ रही हैं उस भ्रम को, उस मिथ्या वुद्धि को, खोटी मान्यताओं को छोड़ें, अपने चैतन्य स्वभाव को समस्त परभावों से विविक्त अनुभव करें। अपने आपको उस ज्ञान स्वरूप में वसायें, यही है संयम, यही है चारित्र, यही है तप, यही त्याग और यही है उत्तम आकिंचन्य।

इस आकिंचन्य भावना से जो च्युत हैं उन्हें यह धर्म की बात घर नहीं कर सकती। देखो जिनके चित्त में परिग्रह के संचय की बात बसी है वे क्या आत्म साधना कर सकते है ? अरे जरा भी परिग्रह जब धर्म मार्ग में बाधक हुआ करता है तो फिर जहां परिग्रह के संचय की बात चित्त में समायी हुई हो तो फिर वहां धर्म धारण करने की पात्रता कैसे सम्भव है ? देखिये कहते हैं ना कि —फांस तनिक सी तन में साले। चाह लंगोटी की दुःख भाले।

अर्थात् जव एक लंगोटी की चाह भी इस जीव के लिए परिग्रह का कारण वन जाती है जैसे कि एक साधु को लंगोटी की रक्षा के लिए किस तरह विल्ली, गाय, दासी आदि का संयोग जुटाना पड़ा और उसका जीवन विडम्बन्नाओं में (विपत्तियो में) पड़ गया। तव फिर जहां नाना प्रकार के संकल्प विकल्प कर्तृव्य भोक्तृव्य के भाव अहंकार आदि के परिणाम वनते हैं और परिग्रह के संचय करने की जहां वासना वनी हुई है, अंतरंग में जहां पर पदार्थो के संचय के प्रति लोभ झलक रहा है वहा न जाने इस जीव की क्या हालत होगी न जाने इसे कितनी परेशानियों में पड़ना पड़ेगा धर्म ध्यान की पात्रता तो इन आरम्भ परिग्रह आदि

बाह्य पदार्थों का संसर्ग, कर्तृत्व भोक्तृत्व, अहंकार, ममकार आदि बुद्धियों से हटकर ही प्राप्त हो सकती है। सो हे आत्मन् अब तो अपने उस समस्त पर से विविक्त ज्ञान स्वरूप मात्र आत्म तत्व को निरख।

देखो—भरत महाराज के पास कितना वैभव था, आखिर वह चक्रवर्ती ही थे, छह खंड का वैभव उनके पास था, एक बार किसी पुरुष के मन में आया कि देखो भरत के पास है तो इतना इतना वैभव, इतना आडम्बर फिर भी इनके प्रति ऐसी प्रसिद्धि है कि वे बड़े धर्मात्मा है, घर में भी बैरागी हैं, तो यह कैसे सम्भव है. कि इतने इतने आडम्बरो के बीच रहकर भी धर्म धारण करने के पात्र बन सके हों। तो वह अपनी इस शंका को मेटने के लिए भरत के पास पहुंचा, अपनी शंका उनके सामने रखी, तो भरत ने उस समय कोई जवाब तो न दिया पर कहा कि देखो पहिले तुम एक काम करो तब तुम्हे जवाब देंगे। क्या करें?—एक कटोरे में लबालब तेल भर दिया और देते हुए कहा कि लो, इसे लेकर नगर का पूरा चक्कर लगा आओ। इसकी एक भी बूंद जमीन पर न गिरने पावे, और नगर का सारा हाल भी हमको बताना। यदि एक बूद भी तेल जमीन में गिर गयी तो तुमको मौत के घाट उतार दिया जायगा। जाओ इतना काम कर आओ फिर हम तुम्हें जवाब देंगे। वह पुरुष तेल भरे हुए कटोरे को लेकर सारा नगर घूम आया पर उसकी दृष्टि बराबर उस कटोरे की ओर ही रही, क्योंकि उसे अपने प्राण जाने का भय था। आखिर जब वह लौटकर भरत के पास आया तो भरत ने पूछा—बताइये नगर में कहां क्या हाल चाल है? तो उसने कहा महाराज मैने सारा नगर घूम डाला पर मेरी दृष्टि एक इस कटोरे की ओर ही रही। तो भरत उत्तर में बोले बस यही तो तेरे उस प्रश्न का उत्तर है। समस्त वैभवों के बीच रहकर भी मेरी दृष्टि उस विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप आत्म तत्व की ओर रहा करती है। इसलिए सब लोग हमें धर्मात्मा कहते है, और हम घर में भी वैरागी हैं।

तो ज्ञानीजन, धर्मात्मा जन, इस बाह्य परिग्रहों के बीच रहा करते हैं फिर भी वे अपने आपके उस विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप आत्म तत्व में रुचि होने के कारण उन बाह्य पदार्थो के संसर्ग मे मग्न नहीं हुआ करते। उनकी दृष्टि, उनकी प्रतीति उनकी अभिरुचि एक उस ज्ञान स्वभाव की ओर ही रहा करती है। जहां देह से, कर्मफल से, रागादिक विकारों से, समस्त पर पदार्थों से समस्त पर भावो से भिन्न अपने आपके आत्म स्वरूप की दृष्टि हुई वहां इन पौद्गलिक बाह्य पदार्थों में

तन्मयता की बुद्धि कहां से हो सकती है ? जहां इस प्रकार की बुद्धि बनी हो कि यह देह मेरा है, ये बाह्य पदार्थ (धन दौलत, स्त्री पुत्रादिक समस्त पर पदार्थ) मेरे हैं बस वहां ही क्षोभ है । यही उसके लिए परिग्रह है । इनके प्रति कर्तृत्व बुद्धि होने के कारण उनकी व्यवस्था बनानी पड़ती है । ऐसा पर पदार्थों के प्रति जहां मूर्छा का परिणाम बना हो वहाँ यह आकिंचन्य भाव कहाँ से बन सकता है । बाहरी पदार्थों के ससर्ग का, संचय का नाम परिग्रह नहीं किन्तु बाहरी पदार्थों के प्रति जो ममत्वबुद्धि है । मूर्छा का परिणाम है वह परिग्रह है । त्यागना है इस मूर्छा परिणाम को ही । बाहरी पदार्थो का क्या त्यागना ? अरे वे तो प्रकट ही तेरे से अलग दिख रहे है । जब तक इन पर पदार्थो के प्रति मूर्छा का परिणाम नहीं त्यागा जायगा तब तक यह आकिंचन्य भाव प्रगट नहीं हो सकता ।

इन बाह्य पदार्थो का सम्पर्क होने न होने से परिग्रही अथवा निष्परिग्रही नहीं कहा जा सकता । अभी कोई दरिद्री पुरुष हो, उसके पास एक छोटी सी झोपड़ी हो, बिल्कुल साधारण स्थिति हो, पास मे बहुत कम सामान है । तो क्या उसे निष्परिग्रही कहना चाहिए ? अरे उसके अन्दर तो ऐसा सस्कार बना है कि दुनियाँ का सारा वैभव मुझे मिल जाय । तो बताओ जहा मूर्छा का परिणाम पर पदार्थों के प्रति बना हो वही तो परिग्रह कहलायेगा न, और कदाचित् किसी को पुण्योदयवश सब प्रकार के सुख साधन प्राप्त हो रहे है, पर उनके प्रति उससे मूर्छा का परिणाम नहीं है ममत्व बुद्धि नहीं है, उनसे पृथक् हो जानेका ही भाव रखता है, अपने सर्व से विविक्त आत्मस्वरूप की ओर दृष्टि रखता है तो उसे इतने आडम्बर के बीच रहकर भी परिग्रही नहीं कहा जा सकता ।

अरे इन पर पदार्थो का संग्रह विग्रह करके सुख (मौज) माना जा रहा है, जरा सोचो तो सही कि क्या ये पर पदार्थ सदा साथ रहेगे ? अरे इनका तो नियम से विछोह होगा । विलगाव होगा । ऐसा जानकर इन समस्त बाह्य पदार्थो की ममता छोड़े और अपने आप के विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप की शरण लेकर उसमे ही रहे, उसी मे तल्लीन हो तो इसी से जीवन की सार्थकता है । अरे इन पर पदार्थो के पीछे मोह करके अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ में खोदेना यह तो एक महान अन्याय अपने आपके साथ किया जा रहा है । इन बाह्य पदार्थो के पीछे न जाने कितने कितने विकल्प मचाने पड़ते है, न जाने कितने कितने अनर्थ के कार्य कर डाले जाते है, पर अन्त मे परिणाम यही होता है कि हाथ कुछ नहीं लगता

है, खाली हाथ जाना पड़ता है। उसके फल में दुर्गतियों का पात्र ही बनना पड़ता है। एक कथानक आपको मालूम ही होगा कि एक बार चार चोर कहीं से चार लाख का धन चुराकर लाये। जंगल में किसी जगह रखा, रात्रि में ही उन चारों में यह निर्णय हुआ कि धन तो अपन लोग बाद में बांटेंगे, पहिले बाजार से कुछ मिठाइयां मंगवाकर खा पी लेना चाहिए। सो दो चोर तो चले गये बाजार मिठाई लेने के लिए और दो चोर रह गये उस धन की रक्षा करने के लिए। जब दो चोर मिठाई लेने जा रहे थे तो रास्ते में सलाह की कि देखो चार लाख का धन मिला है, ऐसे तो एक एक लाख ही मिलेगा, अगर एक उपाय यह किया जाये कि मिठाई में विष देकर इन दोनों को खिला दिया जाय तो वे तो मर जायेंगे, अपने लोग दोनों दो दो लाख बांट लेंगे। बात तय हो गयी। इधर धन की रक्षा करने वाले दोनों चोरों के मन में यह बात आयी कि यह धन बंटने पर तो एक एक लाख ही मिलेगा। अगर यह उपाय किया जाय कि उन दोनों को वहीं से आते सूट कर दिया जाय तो वे मर जायेगे और अपने दोनों को दो दो लाख का धन मिल जायगा।—ठीक। अब क्या हुआ कि उधर से वे दोनों चोर मिठाई में विष मिलाकर लाये और इधर दोनों चोर बन्दूख ताने बैठे रहे। ज्योंही पास में दोनों पहुंचे कि बन्दूख से सूट कर दिया। वे दोनों तो मरण को प्राप्त हो गये। अब दोनों चोरों ने सलाह किया कि पहिले इस मिठाई को तो खा पी लें बाद मे धन बांटेंगे। तो जब मिठाई खायी तो वे भी मर गये। धन ज्यों का त्यों पड़ा रहा। तो देखिये इस परिग्रह के पीछे ही तो ऐसी घटना बनी। यह परिग्रह अनर्थ करने वाला है। जीवों के परिणामों में मलिनता उत्पन्न करने वाला है। अतः इस परिग्रह सम्बन्धी अभिलाषाओं को, परिग्रह के प्रति होने वाले मूर्छा परिणामों को शीघ्र ही छोड़ देना चाहिए।

यद्यपि हम आपके सामने ऐसी असमर्थता है कि इन परिग्रहों को आज छोड़ नहीं पा रहे, पर वास्तव में हम आपकी भलाई है इनके छोड़ने में ही। आज हम आप पर संकट छाया है इस परिग्रह के ही पीछे। इस परिग्रह के पीछे शान्ति कहां है ? अपने आत्म स्वरूप का ख्याल कहां ? यहां तो परिग्रह सम्बन्धी विकल्प ही बनते रहते है। इस परिग्रह के बीच रहकर शांति नहीं मिलती। इसको तो छोड़ देने मे ही शान्ति प्राप्त होती है। एक पौराणिक सत्य दृष्टान्त आया है कि एक बार दो भाई धन कमाने के लिए विदेश गये। समय की बात कि दोनों भाइयों

ने कुछ ही दिनों में बहुत सा धन कमा लिया। अब स्वदेश लौटना हुआ तो उस सारे धन को कैसे लावें ? तो वह सारा धन बेंचकर उनसे बहुत ही कीमती एक रत्न खरीद लिया। उस रत्न को लेकर वे स्वदेश के लिए रवाना हुए। समुद्री मार्ग था, समुद्री जहाज द्वारा वे आ रहे थे। वह रत्न बड़े भाई के पास था। उस समुद्र के बीच में उस बड़े भाई के मनमें आया कि देखो घर जाने पर तो यह रत्न बंट जायगा। यह मेरे ही दिमाग से श्रम पूर्वक कमाया हुआ है। अच्छा होगा कि आज मौका है, इस छोटे भाई को समुद्र में गेर दें। यह मर जायगा तो यह रत्न मुझे मिल जायगा. लेकिन थोड़ी ही देर में वह सम्हल गया, ओह मैं कैसा अनर्थ करना इस रत्न के पीछे विचार रहा था। धिक्कार है ऐसे रत्न को। अपने लक्ष्मण सरीखे प्रेम करने वाले भाई को हमने मारना विचारा। धिक्कार है। उसने छोटे भाई से कहा–भाई इस रत्न को तुम अपने पास रखो। यह तो हमें अपने पास रखना योग्य नहीं। यह तो महान अनर्थ का कारण है। अव छोटे भाई ने उस रत्न को अपने पास रख लिया। थोड़ी ही देर में उसके भी मन में आया कि अव तो यह रत्न मेरे हाथ आ गया है। इसे तो मैंने ही मेहनत करके कमाया था। बड़े भाई ने तो केवल ऊपरी ऊपरा थोड़ा प्रयास किया था, अच्छा होगा कि इस बड़े भाई को समुद्र में ढकेल दें। यह मर जायगा तो यह रत्न मुझे मिल जायगा। नहीं तो घर पहुंचने पर वंट जायगा। लेकिन थोड़ी ही देर में वह भी सम्हल गया और अपने को धिक्कारने लगा। उसने भी अपने वड़े भाई से कह दिया कि इस रत्न को मैं तो अपने पास न रखूंगा। यह तो अनर्थ का ही प्रकटावनहारा है। खैर किसी तरह से वे दोनों घर पहुंचे। वहा अपनी बहिन के पास रत्न को रख दिया। बहिन के मन में भी आया कि ये दोनों भाई इस रत्न को ले लेंगे। अच्छा होगा कि भोजन में विष देकर इन दोनों भाईयों को मार दूं तो यह रत्न मुझे मिल जायगा। पर वह भी सम्हली और दोनों भाईयों से कहा–मैं इस रत्न को अपने पास न रखूंगी। यह तो वड़ा अनर्थ करने वाला है। आखिर मां के पास वह रत्न रखा गया, तो मां के भी वैसे ही भाव हो गये। अपने दोनों पुत्रों को विष देकर मारने के, पर वह भी सम्हली. और मभी ने अपने अपने में उठने वाले अनर्थ भावों को एक दूसरे के समक्ष व्यक्त कया। नव उनकी मां बोली–बेटा यह क्या कमाई कर लाये, एंसी कमाई अपने को नहीं चाहिए। यह तो तुम समुद्र में ही फेंक आवो तभी शान्ति मिलेगी। अपनी तो वह गरीवी की स्थिति ही भली है जिसमें संतोष और प्रेम से रहते हैं। जब वह रत्न समुद्र में फेंक दिया गया तव वे पूर्व की भाँति

सुख से रहने लगे। सो यह पौराणिक सत्य वृत्तान्त है। इससे जीवन में अशान्ति के कारण की खोज कर लो, जब भी खोज होगी तो यह परिग्रह भाव ही अशान्ति का कारण मिलेगा। ऐसा जानकर इस परिग्रह से विरक्त हों और अपने आपके अनन्त अविनाशी पद की धुन बनायें। और उसके दर्शन करें।

प्रभू की उपासना किसलिए की जाती है ? आकिंचन्य भाव की प्राप्ति के लिए। प्रभु और क्या दर्शा रहे हैं अपनी इस वीतराग मुद्रा के द्वारा ? यही कि हे आत्मन्, तुम्हें शांति चाहिए तो हमारे जैसे ही शुद्ध बनो। तभी एक भक्त वीतराग प्रभु की स्तुति करते हुए कहता है कि हे भगवन आकिंचन व्रत तो आपने ही भली प्रकार जाना किस प्रकार:

यदि जग में सार जरा होता, तो तुम कैसे त्यागन करते ?
संसारी जीवों के समान, भवसागर में चक्कर करते ॥

यदि जग का राज्य अटल होता, तो तुम प्रभुजी क्यों कर तजते ?
यदि विषयों में कुछ सुख होता, तो आतमराम कैसे भजते ?
यदि रागद्वेष में हित होता, तो वीतराग कैसे बनते ?
यों स्वजन और परिजन सब से, क्यों मोह त्यागने को ठनते ?

अस्तु समस्त प्रकार के परिग्रहों का संसर्ग तज और अपने अन्तर्मुखी उपयोग से जो अपना अनन्त वैभव है, अनन्त चतुष्टय है उसका धनिक बन। अरे केवल इस उपयोग को ही तो वहां लगाना है। कहीं बाहर में कुछ प्रयास नहीं करना है। अपने उपयोग को उस ओर लगा तो, तू ही इस आकिंचन्य भाव के द्वारा अनंत चतुष्टय का धनिक बन जायगा। देखिये—यदि तुझे शांति चाहिए तो अपनी दरिद्रता को मेंट ले और यदि दरिद्रता ही भली है तब तो चाहे जैसा असंतोष कर।

अरे दरिद्र कौन है ? जिसे तृष्णा लगी है, लोभ का रंग चढ़ा है वही तो है दरिद्र। इसीलिए तो कहा है कि 'घटा दे मन की तृष्णा को अगर सुख से रहा चाहे।' और भी कहा है—गोधन गज धन, बाजि धन, और रतन धन खान। जब आवें संतोष धन, सब धन धूरि समान। अरे यदि दरिद्रता मेटना है तो इस संतोष धन की प्राप्ति करो। अगर जीवन में संतोष रूपी धन की प्राप्ति नहीं हुई तो फिर कितनी ही बाह्य विभूतियों का समागम जुट जाय, उससे तृप्ति नहीं होती। वह

तो महा दरिद्री है। जैसे एक कथानक है कि कोई एक राजा किसी दूसरे राजा पर चढ़ाई करने के लिए जा रहा था। रास्तेमें एक फकीर बैठा था, उसके पास एक पैसा था। कहीं से उसने पा लिया होगा। तो उसने सोचा था कि हम यह पैसा उसे देंगे जो सबसे अधिक गरीब दिखेगा। जब वह राजा दूसरे राजा पर चढ़ाई करने जा रहा था तो उसने किसी से पूछ कर पता पाया कि यह राजा पास के किसी छोटे राजा पर चढ़ाई करके धन हड़पने के लिए आ रहा है। तो फकीर ने सोचा कि इससे बढ़कर गरीब और कौन होगा ? इसी को यह पैसा दे देना चाहिए। तो राजा हाथी पर बैठा हुआ जब सामने से निकला तो उसकी थैली में वह पैसा फकीर ने फेंक दिया। इस बात से राजा ने इसे अपना अपमान समझकर क्रोध उत्पन्न कर लिया। अरे मेरे ऊपर यह पैसा क्यो फेंका ? मैं ही मिला तुझे–हां आप ही मुझे ऐसे दरिद्री मिले। मैं दरिद्र कैसे ? मैं तो इतना बड़ा राजा हूं, मेरे पास इतना वैभव है।–अरे यदि आप दरिद्र न होते तो बेचारे इस छोटे राजा का धन हड़पने क्यों जाते ? अब तो राजा की आंखें खुल गई और वह अपनी सारी सेना सहित वापिस लौट गया। तो देखिये इस परिग्रह के पीछे न जाने कितने कितने अनर्थ हो जाया करते हैं। देखो यदि पर पदार्थों के पीछे, परिग्रह के पीछे तृष्णा है, मूर्छा है, समझ लो कि वह महा दरिद्र है। और यदि कोई अपनी थोड़ी ही स्थिति में ही संतुष्ट है तो वह श्रीमान है। इसलिए यदि श्रीमान बनना है तो संतोष को धारण करो और यदि दरिद्री ही बने रहना इष्ट है तो फिर ठीक है, खूब इन बाह्य पदार्थों की आशा तृष्णा मूर्छा आदि में ही लगे रहो, उन्हीं के पीछे रचे पचे रहो और दरिद्रता का दुःख सहते रहो।

देखिये–यदि मोक्षमार्ग में लगना है तो इन समस्त प्रकार के बाह्य पदार्थों की आशा तृष्णा मूर्छा आदि मे ही लगे रहो, उन्हीं के पीछे रचे पचे रहो और दरिद्रता का दुःख सहते रहो।

देखिये– यदि मोक्ष मार्ग में लगना है तो इन समस्त प्रकार के बाह्य पदार्थों का संसर्ग त्यागना होगा और अपने आपके विविक्त ज्ञान स्वरूप को दृष्टि में लेना होगा। भले ही आज अन्याय से धन का संचय करके कुछ मौज माना जा रहा है लेकिन इसका फल कटुक जब सामने आयगा तब पता पड़ेगा। आज अत्याचार करके अपना मलिन व्यवहार रख रहें, अपनी नियत को खराब कर रहे तो भले ही आज ये सब कुछ अच्छे लग रहे हैं लेकिन जब इन पाप कर्मों का फल सामने

आयगा तब पता पड़ेगा कि अरे इन कल्पनाओं का फल तो कटुक ही प्राप्त होगा। ऐसा जानकर इस अंतरंग बहिरंग समस्त प्रकार के परिग्रहों का, विकार भावों का कल्पनाओं का त्याग करें, इनका संसर्ग अनर्थ का उपजावन हारा समझें और अपने आपके इस आकिंचन्य स्वरूप को दृष्टि में लें।

एक दृष्टान्त है कि एक लकड़हारा था, उसके एक दर्जन बच्चे थे। वह बेचारा प्रतिदिन लकडियां बीनकर लाया करता था और उन्हें बेंचकर परिवार का पालन पोषण किया करता था। अब बताओ जिसके एक दर्जन बच्चे हों और वह रूपया दो रूपया की लकड़ियां बेंचकर अपना परिवार चलाये तो किस तरह चलाता होगा सो आप स्वयं विचार लीजिए। उसकी स्त्री प्रतिदिन उसके ऊपर बड़बड़ाया ही करती थी, पर क्या करे वह ? आखिर स्त्रीने एक दिन कहा कि देखो कल के दिन तुम लकड़ियां बीनने न जाना। एक काम करना।—क्या कि तुम प्रातःकाल उठकर गाव से बाहर जाना और वहां तुम्हें जो भी अच्छी वस्तु मिल जाय उसे घर पर ले आना, फिर हम तुम्हें आगे की बात बतायेंगे।—अच्छी बात। दूसरे दिन प्रातःकाल वह लकड़हारा गांव से बाहर गया तो उसे एक तालाब के किनारे एक बगुला मिल गया। वही उसे अच्छा लगा तो उसे लेकर घर आया। स्त्री ने कहा—देखो कल के दिन तुम इसे हंस बताकर बाजार में बेंच आना।—कितने में ? ३०००) में।—अच्छी बात। गया वह बाजार। सारे दिन उसे किसी ने न खरीदा। कौन खरीदे ३०००) में ? सो वह जब घर लौटकर आ रहा था तो रास्ते में एक सेठ का घर पड़ा, तो सेठ आया, पूछा भाई यह बगुला बेंचोगे ?—हां हां बेचने के लिए ही तो लाये हैं।—कितने में दोगे ? ३०००) में।—अरे यह तो चार आने की कीमत का है। देना हो तो चार आने में दे दे। लकड़हारे के मन में आया कि चलो चार आना ही सही। इस बगुले का क्या करेंगे ? आज भला चार आने में बच्चों को कुछ खिला पिला तो देंगे। जब घर आया तो स्त्री ने बहुत भला बुरा कहा और स्त्री ने कहा—अच्छा देखो कल के दिन तुम फिर प्रातःकाल उठकर गांव बाहर जाना और अच्छे अच्छे फूल तोड़ लाना, मैं उनकी माला बनाऊंगी और तब फिर बताऊंगी कि तुम उसका क्या करो।—अच्छी बात। दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर वह गांव से बाहर किसी बगीचे में पहुंचा और वहां से अच्छे अच्छे फूल तोड़ कर घर लाया। स्त्री ने उसकी माला बनायी और कहा देखो—कल के दिन तुम इसे बाजार में बेंच आना।—कितने में ?—२०००) में तो वह उस माला को लेकर बैठा रहा,

पर उसे किसीने न खरीदा। अरे कौन खरीदे २०००) में। तब फिर वह घर की ओर लौट पड़ा। रास्ते में फिर उसी सेठ का मकान पड़ा। सेठ ने पूछा—क्यों भाई माला बेचोगे?—हां हां माला बेचने को तो लाये ही हैं।—कितने में दोगे? २०००) में। अरे इसमें २०००) की क्या बात? यह तो कोई चार आने की कीमत की है। चार आने लेना हो तो दे दो। लकड़हारे ने फिर सोचा कि चलो चार आने ही बहुत हैं। इस माला का क्या करेंगे? भला चार आने से घर के बच्चों को कुछ खिला पिला तो देंगे। सो चार आने में बेचकर जब वह घर आया तो स्त्री फिर बहुत बड़बड़ाई। खैर तीसरे दिन फिर स्त्री ने कहा कि कल के दिन तुम घर से बाहर जाना तो एक लोहे के डंडे में किसी सुनार से सोने का पालिस करवा लाना, फिर हम तुम्हें आगे की बात बतायेंगे।

—अच्छी बात। वह लकड़हारा दूसरे दिन घरसे बाहर गया, किसी लोहे के डंडे को एक सुनार के पास लेगया और सोने का पानी चढ़वा लिया। सुनार ने भी इस ढंग से पालिस कर दी कि यही मालूम पड़ता था कि वह डंडा सोने का ही है। उसे लेकर घर पहुंचा, स्त्री ने कहा—देखो—कल के दिन तुम इसे बहुत अच्छी तरह छिपाकर बाजार ले जाना और बेच आना।—कितने में? ५०००) में।—अच्छी बात। दूसरे दिन वह डंडा लेकर बाजार गया। आखिर जब न बिकने पर वह वापिस घर लौट रहा था तो वही सेठजी का मकान पड़ा। सेठ ने पूछा—भाई आज तुम कपड़े में छिपाये हुए कौन सी चीज लिए जा रहे हो? तो लकड़हारा पहिले तो बोला कुछ नहीं, पर उसने उस डंडे का जरा सा कोना दिखा दिया। सेठ ने समझ लिया कि यह तो बहुत की कीमती सोने का डंडा मालूम होता है। तो झट घर के अन्दर बुलाकर उसे बिठाया और पूछा—इसे बेचोगे?—हां हां बेचने के लिए तो लाये ही हैं।—कितने में दोगे?—५०००) में। लो सेठजी ने तुरन्त ही तिजोरी से ५०००) निकाल कर दे दिया। और डंडे को तिजोरी में रख दिया। लकड़हारा खुश होकर घर आया। अब स्त्री भी बहुत खुश हुई। अब क्या था। लकड़हारे ने लकड़ी बेचनेका काम बंद कर दिया। कोई नया काम चालू कर लिया और कोट, पेन्ट, सूट में रहने लगा। मकान भी नया बनवा लिया। एक दिन वह शाम को घूमने उसी सेठ के द्वार से एक गीत गाता हुआ जा रहा था, वह गीत क्या था? "ताधिन्ना भाई ता धिन्ना, ता धिन्ना भाई ता धिन्ना।" सेठ को वह गीत पसंद आया। बोला—कुछ और सुनाओ। सेठ तो उसे पहिचान ही न सका

था । यह बोला सुनो—बगुला बेचा चार आने में, माला बेची चार आने में, ता थिन्ना भाई ताथिन्ना.... । अरे भाई इसके आगे भी और है कि नहीं ? सुनाओ तुम्हारा गीत बड़ा अच्छा लग रहा है । और, यह है सुनो सेठ जी—जब तिजोरी में रखा हुआ डंडा काटकर देखोगे तो खबर पड़ेगी वा दिन्ना, ता थिन्ना भाई ता थिन्ना । अब सेठ ने उसे पहिचान लिया कि यह तो वही व्यक्ति है जिससे बगुला, माला, डंडा आदि खरीदा था । तो जब डंडे को निकाल कर देखा तो हाय करके रह गया । तो कहने का आशय यहां यह है कि चाहे कितना ही अन्याय से, अत्याचार से, आज धन कमा लिया जाय, परिग्रह का खूब संचय कर लिया जाय और उससे विकट पाप बंध कर लिया जाय पर अंत मे उनका फल क्या होगा ? अरे एक तो अन्याय से कमाया हुआ धन इसी तरह से बरबाद हो जायगा । उसका सदुपयोग जीवन मे न किया जा सकेगा । और दूसरे उसके फल में बांधे हुए कर्मों का फल बड़ा कटुक प्राप्त होगा ।

आज जिस परिग्रह के संचय की इतनी अधिक धुन बनाई जा रही है, इतनी अधिक तृष्णा की जा रही है तो ठीक है, खूब कर लो तृष्णा, पर खबर पड़ेगी वा दिन्ना । किस दिन ? जब कि इस परिग्रह का विलगाव होगा, इसे छोड़कर जाना होगा । उस समय भी बड़े संक्लेश परिणामों में मरण होगा और फलस्वरूप महा खोटी कुयोनियों का पात्र बनना पड़ेगा । उन कुयोनियों के घोर दुःखों को सहते हुए में खबर पड़ेगी कि ओह, मैने जो अन्यायपूर्वक धनार्जन किया था, परिग्रह का संचय किया था, उसी का यह फल है कि आज मुझे इस तरह की दुःखद घोर यातनायें सहनी पड़ रही है । तो हम आपका कर्तव्य यह है कि आज वर्तमान में जैसी भी स्थिति हो (धनिकता की या निर्धनता की) हर स्थिति में संतोष धारण करके धर्मसाधना में अपना अधिकाधिक समय व्यतीत करें । अपने आपके इस आकिंचन्य धर्म की उपासना करें । इसी का प्रोग्राम बनायें ।

यहां की इन परिग्रह सम्बन्धी लालसाओं का प्रोग्राम बन्द करदें । अरे आज जो भी स्थिति हमें मिली है वह गुजारा चलने के लिए पर्याप्त है । यह तो हमारा एक बहाना है कि इससे हमारा गुजारा नहीं चलता । अरे अगर संतोषवृत्ति से, सात्विकता से अपना जीवन चलाया जाय तो आजकी यही स्थिति पर्याप्त है । आज तो हम आप को यह उत्कृष्ट मानव पर्याय प्राप्त है, सब प्रकार से समर्थ हैं, उत्कृष्ट बुद्धि मिली है । इस बुद्धि का सदुपयोग करके अपने जीवन को सार्थक बना सकते

है। अपना कल्याण कर सकते हैं। यहां से मरण करके कदाचित पशुपक्षी कीड़ा मकोड़ा अथवा नरकादिक की पर्यायों में जाना पड़ा तो फिर क्या हाल होगा ? अरे वहां फिर अपना कल्याण किस तरह से किया जा सकेगा ? अतः अब तो कुछ सोचें समझें, इन आरम्भ परिग्रह की लालसाओं में पड़कर अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ न खोयें।

आज जो पुण्यकर्म के उदय से धन प्राप्त हुआ है उसको यथोचित धर्मकार्यों में यथाशक्ति दान देकर सदुपयोग करलें, इन परिग्रह सम्बन्धी लालसाओं को समाप्त करके अपना एक इस तरह का भाव बनायें कि इस संसार में मेरा कहीं कुछ नहीं है। यहां की किसी भी परवस्तु से मेरा रंच भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसा चिन्तन करके पर पदार्थों से मूर्छा का, ममत्व का परिणाम हटाये और अपने आपको ज्ञायक स्वरूप में लवलीन करे। यद्यपि इस काम को साधुजन ही उत्तम ढग से कर सकते है, क्योंकि वे निश्परिग्रह निसंग होते है। गृहस्थों के पास तो अनेक झंझट होते है, सो ठीक ही है। वास्तव में परिग्रह की वृत्ति और कुछ नही, बल्कि अन्दर रहने वाले लोभ की झलक ही है जो भी साधु अपनी मर्यादा के विरूद्ध कुछ संग्रह करना चाहता है वह गृहस्थ है, साधु नही। जिसके पास धन है वह साधु नही। गृहस्थी में रहकर धन तो चाहिए ही। रखना ही पड़ता है, पर वहां भी कर्त्तव्य यह है कि इसके पीछे मूर्छा का परिणाम न रखें। उसकी तृष्णा लालसा न रखे संतोषवृत्ति से रहें, सात्विकता का स्वागत करे और उन आरम्भ परिग्रह सम्बन्धी सर्वप्रकार के संकल्प विकल्पो को त्यागकर अपने आपके शुद्ध चित्स्वरूप ज्ञायक भाव मात्र की उपासना करे जिन ज्ञानी पुरुषों को इसी उत्कृष्ट काम को करने की धुन बन जाती है। वे बस यही सोचते है कि इस जगत में मेरे लिए करने योग्य अन्य कोई कार्य नही है। बस मै अपने आपके इस आकिन्चन्य स्वरूप को ही लखता रहे। उसी की उपासनामें लगा रहूं, बस यही एक काम मेरे लिए करने योग्य है।

अरे इस परिग्रह के पीछे तो ज्ञानी ध्यानी साधु संतों तक के प्रति भी लोगों का कलुषित विचार हो जाता है। महापुरुषों पर भी संदेह कर लिया जाता है। एक दृष्टान्त है कि कोई मुनिराज किसी नगर में चातुर्मास करने के लिए आये। चातुर्मास प्रारम्भ कर दिया। नगर से बाहर किसी बगीचे में वे रहा करते थे। वहां के एक सेठ के मन में आया कि हम भी महाराज के साथ यहीं बगीचे

में चातुर्मास भर रहेंगे। महाराज की सेवा करेंगे और धर्म साधना करेंगे। अब चूंकि उसका पुत्र कुपूत इसलिए उसने क्या उपाय किया कि अपनी कीमती सोना चांदी रत्न जवाहरात आदि जो भी मूल्यवान चीजें थीं उनको एक हंडे में भरकर वहीं बगीचे में एक पेड़ के नीचे गाड़ लिया। इस काम को करते हुए उसके कुपूत ने देख लिया था। सो एक दिन अवसर पाकर उसने वह धन का हंडा निकाल लिया। चातुर्मास समाप्ति पर मुनिराज तो विहार कर गये। इधर सेठ ने देखा तो धन का हंडा नदारत था। उसके मन में ऐसा संदेह हो गया कि यहां और तो कोई आता जाता न था, सिर्फ मुनि महाराज और हम यहां रहा करते थे। सो महाराज ही वह धन का हंडा निकाल ले गये होंगे। यह विचार कर सेठ महाराज के पास पहुंचा और वहां तीन चार ऐसी ऐसी कथायें कही कि जिनमें यह आशय प्रकट होता था कि हमने तो आपकी चार महीने सेवा की और आपने हमारे धन का हंडा निकाल लिया। तो उसके आशय को समझकर मुनिराज ने भी ऐसे कथानक कहे कि जिससे यह आशय प्रकट होता था कि ऐ सेठ तुम व्यर्थ ही हमारे ऊपर भ्रम मत करो। यह वार्तालाप उसके कुपूत बेटे ने जान लिया कि हमारे पिता जी मुनिराज के ऊपर संदेह कर रहे हैं, सो वह तुरन्त ही मुनिराज के पास पहुंचा और अपने पिता से कहा- कि आप मुनिराज पर व्यर्थ में संदेह न करें। आपका धन का हंडा मैं ही अवसर पाकर निकाल ले गया था, अब आपके उस धन के हंडे को मैंने घर में रख दिया, सो उसे ले लें और मैं तो अब इस धन के संसर्ग से दूर रहकर आत्मसाधना करूंगा। धिक्कार है ऐसे धन को कि जिसके पीछे बड़े बड़े मुनिराजो पर, (महापुरुषों पर) भी संदेह कर डाला जाता है। आखिर वह कुपूत बेटा भी सपूत हो गया और वहां दीक्षित हो गया। तो इस धन का (इस आरम्भ परिग्रह का) संसर्ग योग्य नहीं, जो कि शांति भंग करदे और दुर्गति का पात्र बना दे।

और भी देखिये- सम्राट सिकन्दर ने अपने जीवन में बड़े बड़े अत्याचार, लूटमार, मूर्ति खण्डन आदि के कार्य करके बहुत बड़ा परिग्रह का संचय किया, लेकिन जब उसे अपनी करनी पर पछतावा हुआ, अपने जीवन को बहुत धिक्कारा और अन्त समय कह गया कि हे दुनिया के लोगों जब मेरा मरण होवे तो मेरे दोनों हाथ अर्थी से बाहर निकाल देना ताकि दुनिया देख ले और समझ जावे कि सम्राट सिकन्दर ने जीवनभर खूब अत्याचार करके धनसंचय किया था पर आज वो भी खाली हाथ

जा रहा है। किसी कवि ने कहा है ना कि–सभी थी संग में दौलत, सभी खाली खाली थे। 'सिकन्दर जब गया दुनिया से, दोनों हाथ खाली थे। तो देखिये इस परिग्रह का वियोग तो नियम से होगा ही। यदि इसके पीछे अपने जीवन को बरबाद किया जा रहा है तो अन्त में पछतावा ही हाथ लगेगा और जन्म-मरण की दुःखद परम्पराओं में ही पटकने का कारण बनेगा। यह परिग्रह हम आपका कल्याण कर सकने में कभी भी साधक नही बन सकता। अत. समस्त प्रकार के परिग्रहों से (१४ प्रकार के अंतरंग और १० प्रकार के बहिरग परिग्रहों से) इस ममत्व को मूर्छा को हटाये और अपने आपके आकिंचन्य स्वरूप का दर्शन करें। इसी में हम आपका कल्याण है।

ऐसा निर्णय रखना चाहिए कि इस आकिचन्य भाव के मानने, से अपने आकिंचन्य स्वरूप की दृष्टि बनाये रहने से मुक्ति प्राप्त हो सकेगी। वीतराग प्रभू की मुद्रा भी यही शिक्षा दे रही है कि रे आत्मन्, सर्व परका संसर्ग तोड़कर निज आकिंचन्य स्वरूप का, सहजानन्द स्वरूप का, ज्ञायक स्वभाव मात्र का दर्शन करो। पूजन में भी पढ़ते ही है कि .—

परिग्रह चौबिस भेद, त्याग करें मुनिराज जी।
तृष्णा भाव उछेद, घटती जान घटाइयो ॥
उत्तम आकिंचन गुण जानो, परिग्रह चिंता दुःख ही मानो।
फाँस तनकसी तनमें साले, चाह लंगोटी की दुःख भाले ॥
भाले न समता सुख कभी नर, बिना मुनी मुद्रा धरे।
धनि नगन पर तन नगन ठाढे, सुर असुर पायन परें ॥
घर माहि तृष्णा जो घटावे, रुचि नहीं संसार सों।
बहु धन बुरा हू भला कहिये, लीन पर उपकार सों ॥

(ॐ ह्री उत्तम आकिंचन्य धर्मांगाय नमः)

उत्तम ब्रह्मचर्य

आकिंचन्य धर्म के अनन्तर दस लक्षण पर्व का आज अन्तिम दिन है। इस दिन उत्तम ब्रह्मचर्य की चर्चा करना है। 'ब्रह्मणिचरणं ब्रह्मचर्यं'। आत्मा में चर्या करना इसको कहते है ब्रह्मचर्य। ब्रह्म मायने आत्मा, इस ज्ञान दर्शन स्वभावी आत्मा मे चर्या करना, रमण करना, लीन होना इसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी आत्मतत्व में ही रमण हो, अन्य पर पदार्थो से, परभावों से रमणता का भाव छूटे और समस्त प्रकार की विषय वासनाओं के संस्कारों से निर्मुक्त होकर आत्म स्वभाव में ही तल्लीन रहें इसे उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म कहते हैं। इस उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म के पात्र साधुजन ही हुआ करते है, क्योंकि जिन्होंने समस्त प्रकार के परिग्रहों के ससर्ग को, उनकी अभिलाषाओं को, उनकी आसक्ति को छोड़ दिया है ऐसे साधुजनो के ही ऐसी पात्रता बन सकती है कि वे अपने आपके ज्ञायक स्वभाव का परिचय कर उसमें लीन हो सकते हैं।

जहां नाना प्रकार की परिग्रह सम्बंधी वांछाये जग रही हों वहां आत्मा में आत्मा की तल्लीनता होना असम्भव है । इसी आत्म तल्लीनता के महान कार्य हेतु ही तो साधुजन इन समस्त प्रकार के परिग्रहों के संसर्ग से दूर रहा करते हैं। मूल में इस ब्रह्मचर्य के कार्य में बाधक यह परिग्रह भाव ही तो है। देखिये–वैसे तो पाचो पाप, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इनसे ब्रह्मचर्य का घात हुआ करता है। हिसा है तो वहां भी ब्रह्मचर्य का घात है, असत्य है, तो वहां भी ब्रह्मचर्य का घात है, इसी प्रकार चोरी, कुशील से और परिग्रह पाप से ब्रह्मचर्य का घात है। परिग्रह भाव जहां है वहां विशेष रूप से ब्रह्मचर्य का घात है। परिग्रह के विषय मे कहा है कि 'परिसमन्तात्ग्रहणातिइति परिग्रहः'। अर्थात् परिग्रह कहते ही उसे है जो इस व्यक्ति को चारो ओर से जकड़ ले, कस ले, यहां जो चारों ओर से विकल्प उठ रहे हैं, अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां बन रही हैं उनसे ही यह जीव

लिप्त हो रहा है, इसी को कहते हैं परिग्रह। ऐसे ऐसे परिग्रहों में रहकर आत्म स्वरूप में रमण करने का कार्य बन नहीं सकता। जो पर पदार्थों की चिन्तना में रहता है वह तो इस आत्म स्वभाव से बहुत दूर भटकता रहता है।

देखिये—इस परिग्रह के पीछे लोभ कषाय की प्रबलता रहती है। इस लोभ कषाय को क्रोध कषाय से हल्के दर्जे की न समझे। यद्यपि क्रोध कषाय को पहिले कहा गया है तथा यह ऊपर फलित रूप से देखने मे आ जाती है इसलिए लोग इसे प्रबल कषाय मानते हैं पर यह लोभ कषाय भी उस क्रोध कषाय की तरह ही समझिये। यह भी उसी दर्जे की चीज है। तो यह लोभ कषाय इस आत्मसाधना के कार्य मे अत्यन्त बाधक है। लोभ तो कितनी ही चीजो का रहता है जैसे अपनी प्रतिष्ठा का लोभ, कीर्ति का लोभ, अपनी विषय वासना का लोभ आदि। तो जो व्यक्ति इस लोभ कषाय को लिए हुए बैठा हो वह इस धर्म को धारण करने का पात्र नही है। जहा धन वैभव संबन्धी चाह लगी है, भोगो को भोगने की वांछा बनी है वहां तो धर्मधारण की गंध भी नही आती धर्मधारण करने का अधिकारी वही ज्ञानी पुरुष होता है जो इन परिग्रहोसे मूर्छा हटाकर उनसे ममत्व तोड़कर अपने आपके विविक्तस्वरूप को प्रतीति मे लेता है। फिर भी परभावो से छुटकारा न हो तो इन आश्रव भावो से छुटकारा किस तरह से हो सकता है ? इन आश्रवो से छुटकारा प्राप्त करने के लिए इन लोभादिक कषायो को छोड़ना ही होगा। जिन जिन सम्पर्को से लोभ बढ़ता है उनका त्याग करे।

परिग्रह मूल मे दो प्रकार के बताये गये है-बाह्य परिग्रह और अतरग परिग्रह। यहां इन परिग्रहो की चर्चा इसलिए कर रहे है कि यदि हम खोज करे, अपने अन्दर परखे तो ये परिग्रह भाव ही इस ब्रह्मचर्य के घातक हैं। जो अतरंग परिग्रह है वे १४ प्रकार के बताये गये है- मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद। इनमे मिथ्यात्व परिग्रह मुख्य है, क्योकि जहा स्व पर का ज्ञान नही है। उस अवस्था का नाम है मिथ्यात्व। अरे जिस पदार्थ का मै स्वामी नही, उस पदार्थ को मानूँ कि यह मेरा है, इसको मै ऐसा कर देता हू, यही तो मिथ्यात्व है। अरे उसने अपने अभेद षटकारक स्वरूप को नही पहचाना और क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक से अपना सम्बध मानने की बात रखी तो यह ही मिथ्यात्व भाव झलक गया। मिथ्यात्व मे ऐसी बुद्धि रहती है कि यह मै पर पदार्थों का अधिकारी हू, यह पर

मेरे द्वारा किया गया है, यह पर मेरे द्वारा किया जा रहा है। पर मैं तो यह किया जा रहा और पर के आधार से यह कार्य बना हुआ है। जब ऐसा बाह्य में कर्तृत्वात्मक रूप विकल्प बनता है वहां कहां से सम्यक्त्व जग सकता है? सम्यक्त्व तो अपने आपके विषय में इस आत्म स्वरूप की परख की जाय और यह बात विदित हो कि मैं अपने ही लिए, अपने में ही, अपने द्वारा ही, अपना काम किया करता हूं, पर का किंचित मात्र भी कुछ नहीं हूं। जब वस्तुस्वरूप का परिचय मिला कि प्रत्येक वस्तु अखण्ड होती है और प्रत्येक वस्तु का परिणमन उसका उसके ही आत्मप्रदेशमें होता है, फिर किसी एक पदार्थ का परिणमन किसी दूसरे में थोपना इसमें तो एक बहुत बड़ा व्यभिचार दोष है। इस व्यभिचार दोष को जब तक समाप्त न करेंगे तब तक ब्रह्मचर्य की स्थिति प्राप्त नही की जा सकती। पर ये अज्ञानीजन अपने में कर्तृत्व का आशय लादे फिरते है। जिसके कारण ही स्वयं परेशान रहा करते है। यह है तो बड़ा नीचा काम, ससार मे ही इस जीव को भटकाने का काम, पर ये अज्ञानी प्राणी इस कर्तृत्व बुद्धि को करके ऐसा अहंकार का भाव लिए रहता है कि मै हूं सबसे ऊचा। यही हाल तो इन परिग्रह धारियों का होता है।

वस्तुत. इस परिग्रह के ही कारण हम नाना प्रकार के दुःख पाते रहते हैं। इसलिए इस परिग्रह संचय का कार्य है तो महा मलिन, पर अज्ञानीजन इस परिग्रह के कारण अपने को बड़ा मानते है, दूसरो को तुच्छ समझते है, लेकिन इसका परिणाम क्या होगा? अरे जिस पर जितना परिग्रह का भार है वह उतना ही दु:खी समझो, परिग्रह के भार वाले कभी भी संसार नदी को पार नहीं कर सकते जैसे एक कथानक है ना कि एक बार कोई दो व्यक्ति नदी पार कर रहे थे, दोनो के सिर पर एक एक पोटली थी। एक के सिर पर तो थी नमक की पोटली और एक के सिर पर थी रूई की। अब नदी के बीच में से दोनो गुजर रहे थे। रूई की पोटली वाला ऐसा अहकार का भाव लिए था कि पोटली तो मेरी है बड़ी माल वाली, और यह दूसरे की पोटली तो कुछ नहीं है। कुछ ही दूर चलकर एकदम से जोर से वर्षा होने लगी तो नदी मे जल का तीव्र प्रवाह आया। रुई वाले की पोटली भीग जाने से वह और भी भारी हो गई जिससे स्वयं भार के बोझ से वह नदी मे डूब गया और नमक की पोटली वाले का नमक धीरे धीरे पिघलकर पानी रूप में बह गया। भार हल्का हो जाने से वह आसानी से नदी पार करके बच गया। तो ऐसे ही समझिये कि यह संसाररूपी नदी को आप इस ब्रह्मचर्य के द्वारा

ही पार कर सकेंगे। यदि इसी तरह के कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अहंकार, ममकार आदि के ही भावों को लिए बैठे रहे तो फिर इस संसार रूपी नदी का तिरना असम्भव हो जायगा।

इस ब्रह्मचर्य की स्थिति को पाकर ही यह स्वयं स्वयं की स्थिति को प्राप्त कर सकता है। देखिये हम आप मन्दिर में दर्शन करने जाते हैं, पूजन करने जाते हैं और वहा अच्छे अच्छे जेवर, और अच्छी अच्छी साड़ी आदिक पहिनकर कोई जाता है तो जरा सोचो तो सही कि यह प्रभू के दर्शन वहां करता है या उस साड़ी जेवर आदिक के। अरे वहा जाने का प्रयोजन तो था ब्रह्मचर्य की प्राप्ति करना, क्योकि यहा घर मे रहकर उस चीज की प्राप्ति नही हो सकती थी, लेकिन किया क्या कि भगवान के पास भी परिग्रह का बोझ लाद ले गये। अरे इतना बोझ तो घोड़ा भी लादना नही चाहता, पर यह सुभट तो इन घोड़ा आदिक तिर्यन्चों से भी गया बीता बन रहा है। यह मानता है कि मै बडा अच्छा बन गया। अरे कहा हुई प्रभू की उपासना ? इस परिग्रह के भाव मे रहकर तो प्रभु की भक्ति नही होती, ब्रह्मचर्य की स्थिति नही बनती। इस ब्रह्मचर्य की स्थिति के लिए इन सब चीजो से विरक्त होना होगा। जिनके परिग्रह के सचय का भाव लगा है और परिग्रह से जो ऐसा मानता है कि मैने बडा काम कर लिया, उसे तो ऐसा समझे जैसे गर्मी के दिनो गधा घास चरकर कुछ ऐसी ऐठ दिखाता है कि देखों मैने इतनी जमीन की घास चर ली। अरे ये सब परिग्रह विकल्प मोक्ष मार्ग मे बढ़ने के लिए बाधक है। जिन्हे मोक्ष मार्ग मे बढना है और ब्रह्मचर्य का लाभ लूटना है उन्हे चाहिए कि उन समस्त प्रकार के अतरग बहिरग परिग्रहो को त्याग दे। ये समस्त प्रकार के क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक विकार भाव है। ऐसा यथार्थ परिचय पाकर इनसे पृथक होकर अपने आपके ज्ञाता दृष्टा स्वभाव मे तल्लीन हो इसी को कहते है ब्रह्मचर्य।

बाह्य परिग्रह तो बाहर ही पड़ा है, इसका तो त्यागना ही क्या है ? वह तो प्रकट ही अलग पडा है, पर तत्सम्बन्धी जो अतरग मूर्छा आदिक के परिणाम है, अनेक प्रकार के विकल्प है उनको त्यागने की जरूरत है। प्रवचन सार मे कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि कदाचित् किसी प्राणी का घात हो जाय तो उससे कर्म बन्ध हो भी अथवा न भी हो, यहा तो ऐसा वैकल्पिक आख्यान है लेकिन बाह्य पदार्थो का संसर्ग नियम से कर्मबन्ध का कारण है, क्योकि बाह्य पदार्थ मूर्छा के सद्भाव से ही रखे जाते हैं। अस्तु इन समस्त प्रकार के अंतरंग बहिरंग पदार्थों

का त्याग कर एक निज आत्मस्वभाव में ही रमण करने की प्रेरणा आज का यह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म दे रहा है।

इस ब्रह्मचर्य धर्म में मुख्यता है कुशील पाप के त्याग की। देखो स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है स्पर्श, रसना इन्द्रिय का विषय है रस, इसी प्रकार घ्राण इन्द्रिय का विषय है गंध, चक्षु इन्द्रिय का विषय है रूपावलोकन और श्रोत्र इन्द्रिय का विषय राग रागनी के शब्द श्रवण आदि पर इनमें जो स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है स्पर्श, उसको अलग से पापों में कुशील नाम से गिनाया गया है। यह कुशील सेवन एक बड़ा ही मलीन परिणाम है, जहाँ नाना प्रकार के विषय सस्कार लगे है वहां होता है कुशील का परिणाम। इसलिए इस अब्रह्मचर्य से बचने के लिए स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना चाहिए। इस स्पर्शन इन्द्रिय का लगाव क्यों होता है कि शरीर में ऐसी बुद्धि बनी है कि यह शरीर सुन्दर है। अरे सुन्दर वस्तुऐं क्या है ? सुन्दर का अर्थ ही क्या है सो देख लो- सुउपसर्ग है, उन्दीं क्लेदने धातु है और उसमें अरच प्रत्यय का अर लगा है। अर्थ यह हुआ कि जो अच्छी तरह से क्लेश करे, दुःखी करे, तड़फा तड़फाकर मारे उन्हे कहते है सुन्दर। तो इन सब सुन्दर पदार्थों से मैं जुदा हूं। लोग इस शरीर को देखकर ही रीझते हैं ? क्या कोई आत्मा को देखकर रीझता है। यहां तो मायाकी माया से पहिचान हो रही है। सूरत से सूरत की पहिचान हो रही है। सूरत से सूरत की रीझ हो रही है। मूरत का मूरत से ही परिचय हो रहा है। जरा इस शरीर का स्वरूप तो देखो कैसा है जिस पर लोग इतना रीझ रहे है, आसक्त हो रहे हैं। अरे यह शरीर महा अपवित्र है। यह तो मलमूत्र आदिक महागंदी चीजों से भरा हुआ है। इसमें क्या रीझना, क्या आसक्त होना, प्रीति करो अपने अनुपम सुन्दर ब्रह्मचर्य स्वरूप से। उसी को निरखो, उसी में चर्या करो, ऐसा यत्न बनाना ही श्रेयस्कर है। कोई एक राजपुत्र था, वह एक बार उसी नगर के किसी सेठ की पुत्रबधू के सौदर्य को देखकर मुग्ध हो गया। उससे मिलने की वांछा हुई, चिन्तातुर रहने लगा। एक दिन उसकी दासीने उस राजपुत्र की उदासी का कारण पूंछा, तो राजपुत्र ने वता दिया। कि अपने नगर के अमुक सेठ की पुत्रबधू से मिलने की मेरी वांछा है। —ठीक है, हो जायेगा मिलन, कौन सी बड़ी बात है ? वह दासी पहुंची, उसी सेठ की पुत्रबधू के पास आकर सारा हाल कह सुनाया। पुत्रवधू तो थी शीलवती, अतः वह बोली कि ऐसा कभी नहीं हो सकता। पर उस राजपुत्र को यदि मेरे सौन्दर्य से प्रीति

उत्पन्न हुई है तो कह देना कि आज से १५वे दिन आकर मिल जावे। दासी ने आकर राजपुत्र को बताया, तो उसे बड़ा सन्तोष हुआ। उधर उस सेठ की पुत्रवधू ने १५ दिन के अन्दर क्या किया कि जुलाब लेना शुरू कर दिया और जो भी मलमूत्र, खून आदिक था वह सब एक हंडी में भरती गयी। १५ दिन में वह बहू सूखकर कांटा हो गयी। उसकी शकल भी बदल गयी, आखिर उसने क्या किया कि उस मलमूत्र आदिक से भरी हांडी को बाहर से खूब कागज, वस्त्र रंग आदिक से सजा दिया और उसका मुख बन्द कर दिया। जब १५ वें दिन राजपुत्र मिलने आया तो उसकी शकल देखकर उसे पहिचान ही न पाया। तो वह बहू बोली कि ऐ राजपुत्र तुम मेरे जिस सौंदर्य से प्रीति कर रहे थे वह देखो हांडी में भरा रखा है। कर लो उससे चाहे जितनी प्रीति। तो ज्यों ही राजपुत्र ने उसे खोलकर देखा तो मारे दुर्गन्ध के वहां से भागा और अपने घर चला गया। तो अब परख लीजिए कि जिन सूरतों में इतनी प्रीति के परिणाम बसाये हुए है उन सूरतों में क्या भरा है ? सो विचार कर लो अरे जिस प्रकार से वह विष्ठा से भरी हांडी थी ऊपर से कागज आदिक से मढ़कर सुन्दर बना दी गयी थी उसी प्रकार की बात तो इन दिखने वाले शरीरो मे है ? ये बाहर से देखने मे बड़े चिकने चोपड़े सुन्दर लग रहे है, ऊपर से पतली चाम की चादर मढ़ी हुई है इससे इसकी सारी अपवित्रता ढकी हुई है। वस्तुत. तो यह शरीर अतिघिनावना है, आदि अपवित्र है महाअपावन वस्तुओं का घर है। शरीर के जिस सौन्दर्य को देख देखकर लोग मुग्ध हो रहे है वह शरीर तो महामलिन है, उससे ममत्व करना, प्रीति करना, स्नेह करना यह तो एक बिल्कुल व्यर्थ की चीज है। आचार्य देव ने कहा है कि जैसे सूकर विष्टाका सेवन करने से घृणा नहीं करता इसी प्रकार यह संसारी विषयाभिलाषी प्राणी भी इस विषय सेवन को करते हुए घृणा नही करता शरीर स्वरूप की अनित्यता व उसकी अशुचिता के सम्बन्ध मे एक उर्दू शायर ने अपनी शेर में कहा है कि :–

आदमी का जिस्म क्या है, जिस पै शैदा है जहां।
एक मिट्टी की इमारत, एक मिट्टी का मकां ॥
गारा इसमें खून है, अरु ईंट इसमें हड्डियां।
चंद सांसों पर खड़ा है, यह खयाली नूर सां ॥
मौत की पुर जोर आंधी, इससे जब टकरायगी।
दम के दम में यह इमारत, टूट कर गिर जायगी ॥

तो फिर इस असार अशुचि अनित्य शरीर के प्रति क्या आकर्षण रखना है, अपने विशुद्ध परम पावन ज्ञानदर्शन स्वरूप ब्रह्म में ही लीनता का भाव रखें।

जो ब्रह्मचारी हैं उनके तो स्त्री विषयक विकल्प उठता है तो वह ब्रह्मचारी नहीं है। इस ब्रह्मचर्य धर्म पालन के सिलसिले में मूल में यह काम करना है कि यथार्थ रूप से इस ब्रह्मचर्य का स्वरूप समझकर समस्त प्रकार की विषयवासनाओं से विमुक्त होकर निर्मल बनना चाहिए। केवल एक स्त्रीमात्र का त्याग कर दिया, इतने मात्र से ही अपने को ब्रह्मचारी न मानें, किन्तु ब्रह्मचर्य शब्द का जैसा अर्थ हैं- ब्रह्म अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप में चर्या अर्थात् आचरण करने वाला बनायें तो समझिये अपने को ब्रह्मचारी। अपने आपकी शान्ति के अर्थ समस्त प्रकार के दुर्भावों का त्याग करना और अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूप में लीन होना, आचरण करना, सो है ब्रह्मचर्य।

इन दशलक्षण धर्मो में यद्यपि सभी कषायों के त्याग की बात आयी है, पर इस ब्रह्मचर्य धर्म में कामवासना का त्याग पंचेन्द्रिय के विषयों का त्याग, इसकी मुख्यता है। इन विषवासनाओं को त्याग कर अपने परिणामों में, अपने विचारों में शुद्धि (पवित्रता) लाने के लिए इस कुशील त्याग की मुख्यता है। जैसे स्वर्ण से स्वर्णाभूषण और लोहे से लौहाभूषण आदि बना लिए जाते है, इसी प्रकार से अपने आपके शुद्ध विचारों से, शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। यदि हमारे विचार अशुचि हैं, मलिन हैं तो आत्मस्वरूप पर भी वही असर पड़ेगा। फलतः आत्मा में अशुद्धता का प्रादुर्भाव होगा। और यदि अपने आपके शुद्ध वातावरण हो तो इससे शुद्ध विचार उत्पन्न होते हैं। जिन्हें अपने आपके इस ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी हो उन्हें इस ब्रह्मचर्य को अपनाना ही होगा। चरणानुयोग के अन्तर्गत शीलकी जो ९ बाड़ें कहीं हैं उनके पालन बिना इस ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं हो सकती। अस्तु ९ बाड़ों को अपने चित्त में उतारें, जिससे कि इस शील के, चारित्र के, ब्रह्मचर्य के भंग होने की गुंजायस न रहे। चरणानुयोग के विधि विधान के अनुसार चलना सीखें, इससे ब्रह्मचर्यव्रत स्थायी रहेगा। चरणानुयोग विधान में बताया है कि ब्रह्मचारी को एकान्त स्थान में मुनियो के लिए किसी एकान्त में स्त्रीजनों से चर्चा करना मना किया गया है तो फिर हम आप लोगों की बात ही क्या है। जहां चारित्र अत्यन्त शिथिल है और ज्ञान की अल्पता है। अपने आपके शुद्ध विचारों के लिए शुद्ध अवलम्बन का होना आवश्यक है। पद्मनन्दी महाराज ने

कहा है कि जैसे कुम्हार के चाक का आधार उस चाक की कीली है और उस पर रखे हुए मिट्टी पिण्ड में अनेक पर्यायें बनती हैं, ठीक इसी प्रकार संसाररूपी चाक का आधार स्त्री है, और अनेक प्रकार के विकार करके जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। देखिये-यहां जो कुछ भी कहा जा रहा है उसमें किसी को बुरा लगने की जरुरत नही है, क्योंकि जो बात स्त्रियों के लिए कही जा रही है वही बात पुरुषो पर भी लागू होगी। दोनों पक्षों को साथ साथ लेकर समझते रहना चाहिए।

अपने आपके अन्दर उठने वाला जो अज्ञान मलिन परिणाम है वही वास्तव मे पाप है। मूलत हम आपको उस अज्ञान, मलिन परिणाम को, विषयाभिलाषाओ को ही त्यागना है। परन्तु ये सव पापरूप परिणाम इन बाह्य विषयभूत पदाथो का आश्रय लेकर हुआ करते है इसलिए इन विषयभूत पदार्थों से भी अत्यन्त दूर रहना आवश्यक बताया गया है।

ब्रह्मचारी को स्त्रियो के सहवास मे रहकर अपने ब्रह्मचर्य व्रत की परीक्षा करने का आदेश वीतराग सर्वज्ञदेव के शासन मे नही है। अगर कोई ब्रह्मचारी स्त्री सहवास मे रहकर अपने ब्रह्मचर्य की परीक्षा करना चाहे तो उसका यह अज्ञानता भरा प्रयास है। उसके इस बहाने को कदापि नही माना जा सकता। अरे यह स्त्री तो इस ससार के परिभ्रमण का मूल ही है, इसलिए उस स्त्री ससर्ग से दूर रहकर अपने आप के आत्मस्वरूप की परमार्थ दृष्टि बनाकर समस्त प्रकार के काम विषयक विकार भावो से दूर हो और अपने जीवन मे संयमनियम तथा विशुद्धता का परिणाम वनाये रहें। इस ही से इस ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा होती है। शरीर के स्वभाव को जानकर शरीर मे रमण करना योग्य नही है। देखिये-५ बालब्रह्मचारी तीर्थकरो की बात कि, क्या उनके पास सब प्रकार के वैभव न थे? भोग सामग्री क्या न थी? सब कुछ था उनके पास पर उन्होंने इस हृदय में विरक्ति के परिणाम हुए, समस्त ससार को असार जानकर उन्होने निर्ग्रन्थता को अंगीकार किया।

आखिर यहा के समस्त प्राप्त समागम एक दिन छूटने तो है ही। चाहे जीते जी छूट जाये या मरण समय मे छूटे, परन्तु विवेक तो इसी में है कि उन्हे जीते जी ही छोड़ दिया जाय। बहुत मे विवेकीजन ऐसे भी होते है जो इन विषयभोग के साधनो का नाममात्र सुनकर, उनका कुछ स्वरूप परिचय कर उन्हे छोड़ देते है। कुछ लोग कुछ दिन उन्हे पहले से ही छोड़दे। इसीलिए तो गुणभद्राचार्य ने

कौमार ब्रह्मचारियों की स्तुति की है, कि धन्य हैं वे कौमार ब्रह्मचारी वे ही आदर्श त्यागी हैं। एक दृष्टान्त है कि कोई एक भंगिन प्रति दिन मलसे भरा हुआ टोकना लेकर बाजार के रास्ते से निकला करती थी। उससे बहुत से लोगों को घृणा होती थी। एक दिन किसी कपड़े के व्यापारी ने उस भंगिन को एक अच्छी साफ तौलिया दिया और कह दिया कि देखो तुम इस मलके टोकने को प्रतिदिन इस तौलिये से ढककर ले आया करना, क्योंकि बहुत से लोगों को उसे देखकर घृणा पैदा हो जाती है। एक दिन की बात कि वह भंगिन मलका टोकना लिए ऊपर से वही तौलिया ढके हुए चली जा रही थी। तो उसे देखकर कोई तीन विषयाभिलाषी पुरुष उसके पीछे लग गये। वे समझ रहे थे कि इसके टोकने में कोई अच्छी चीज है, क्योंकि उस बड़े सुन्दर साफ तौलिये से ढके हुए है। सो थोड़ी दूर चलकर भंगिन ने देखा कि कोई तीन व्यक्ति हमारे पीछे लगे हैं। सो पूछ बैठी कि भाई तुम लोग हमारे पीछे क्यों लगे हो। तो उन तीनो ने कहा कि हम यह जानने के लिए तुम्हारे पीछे लगे हैं कि तुम तौलिया से ढके हुए इस टोकने में क्या चीज लिए जा रही हो। तो उसने कह दिया कि इसमें तो मल है। तो उनमें एक विवेकी पुरुष इतना सुनते ही लौट गया। दो व्यक्ति अभी भी पीछे लगे रहे।—क्यो पीछे लगे हो ?-हम तो देखकर ही विश्वास करेंगे। -लो देख लो (खोलकर दिखा दिया) तो उनमें से एक और वापिस लौट गया। एक व्यक्ति अभी भी पीछे लगा रहा।-भाई क्यों पीछे लगे हो ? -हमें तो अभी तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं होता। हमें तो तब विश्वास होगा जब सूंघ सांघकर अच्छी तरह परख लेंगे। सो जब सूंघ सांघकर अच्छी तरह परख लिया तब वह वापिस लौटा। तो देखिये-जैसे वह मलका टोकना तौलिये से ढका हुआ था ऐसे ही यह दिखने वाला चिकना चाकना मलपिण्ड शरीर भी इस पतली चाम की चादर से ढका हुआ है, मढ़ा हुआ है। इसीसे इस शरीर की सारी गंदगी इसके अन्दर ढकी हुई है। अरे इसके अन्दर क्या ? मलमूत्र, खून, पीप, नाक, थूक, कफ, खकार, हड्डी, मांस, मज्जा आदिक मलिन पदार्थ। यही सब महा घिनावनी चीजें इस देह के अन्दर भरी हुई हैं। इसके समान अपवित्र चीज और कौन सी बतादी जाय।

तो ऐसे अपवित्र मलमूत्रादिक युक्त महा घृणित शरीर में ये विषयाशक्त पुरुष कितने मुग्ध हो रहें हैं, लुभा रहे हैं। ऐसे इन मोहान्ध प्राणियों को आचार्यजन समझाते हैं कि हे आत्मन्, देख जिस शरीर में तू इतनी रति करता है, जिसे तू सुन्दर समझ कर व्यामुग्ध हो रहा है ऐसा यह शरीर तो महागंदा है, निस्सार,

है । तू क्यों व्यर्थ में इसके पीछे लगा हुआ है । आचार्यदेव की इतनी बात सुनते ही वे कौमार ब्रह्मचारी तो वापिस लौट गये, अर्थात् उन्होंने इन विषयों को बिना भोगे ही तिलांजलि दे दी, परन्तु दूसरे सुभट, दूसरे नम्बर वाले ऐसे निकले कि जिन को आचार्यजनों की बात का विश्वास ही न हुआ । सो उन्होंने उन भोगों का कुछ भोगकर ही छोड़ा । चलो वे भी अच्छे ही रहे, पर तीसरे नम्बर के जो महा व्यासक्त मोही अज्ञानी प्राणी हैं वे उन ही विषयभोगों में अब भी रच पच रहे हैं । बरबाद हो रहे हैं, पर उन्हें छोड़ना नहीं चाहते । ऐसे व्यासक्त पुरुषों के लिए आत्मस्वरूप की दृष्टि अत्यन्त दूर है ।

अरे याद करो उन व्यक्तियों के दृष्टान्त कि जिनके पास सर्व-प्रकार के सुखसाधन थे, सब प्रकार की विभूतियां थी, पर उन्होंने किस तरह से इस ब्रह्मचर्य रक्षा के हेतु अपना सर्वस्व त्याग दिया । देखो उन पार्श्वनाथ प्रभु को, उन महावीर प्रभु को जिन्होंने बाल्यावस्था में ही इन काम भाव को दूर कर दिया ।

अनिर्वारोद्रेक त्रिभुवन-जयी काम सुभटः ।
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः ॥
स्फुरन्नित्यानन्द प्रशम-पद-राज्याय स जिनः ।
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥

ऐसे महावीर स्वामी हम सबके लिए मार्गदर्शी होवें । कैसे हैं वे वीर प्रभू ? अनिर्वार है बेग जिसका ऐसे कामरूप सुभटको जिन्होंने कुमार अवस्था में ही निज आत्मबल से जीत लिया, किसलिए ? अपने आपमें प्रकट हुए आनन्द और वृद्धि को प्राप्त प्रशमपद की राज्य की रक्षा के लिए ऐसे महावीर स्वामी हम सबकी रक्षा करो । अथवा कुल भूषण देशभूषणकी याद करलो, निकलंक, अकलंक की बात याद करलो, आखिर उन्होंने क्या किया ? कैसा पवित्र परिणाम उनके जगा कि अपने आपकी रक्षा के लिए अपना सर्वस्व त्यागकर इस आत्मप्रभु की शरण ली, और इसी कारण वे कल्याण के पात्र बने । इन पौराणिक पुरुषों से हमें शिक्षा लेना चाहिए और इस जीवन में ब्रह्मचर्य को अपनाना चाहिए । आजकल तो मातपिताओं ने भी अपने बालकों एवं बालिकाओं को स्वतंत्र छोड़ दिया है । आजकल ऐसे ऐसे अश्लील वस्त्र चले हैं कि जिनके पहिनने से अंगोपांग दिखते हैं, बल्कि यों कह लो कि वेश्याओं में और इन बालिकाओं में अन्तर नजर नहीं आता । उनके उभरे हुए अंग स्पष्ट दिखते हैं और उनके माता पिता इस बात

की अनुमोदना करते हैं कि अब तो हमारी लड़की सुन्दर लगेगी। और यदि धर्म की रक्षा करनी हो तो सात्विकतावादी पद्धति को ही अपनाना होगा। इन चमक दमक, तड़क भड़क के पहनावों को बदलना होगा, और उनको शिक्षण इस ढंग का देना चाहिए कि अश्लील उपन्यासों को, गंदी पुस्तकों को मत पढ़ो। पढ़ो उन शीलवती सीता, अंजना, द्रौपदी, मैनासुन्दरी आदि के पावन चरित्रों को। उनके चरित्र पढ़ने से बड़ी प्रेरणायें मिलेंगी और जीवन धार्मिकता की ओर ढलेगा। ये सब सुधार लाने की जिम्मेदारी इन मात-पिताओं पर है। (देखिये कुछ बातें चित्त में खटकती हैं इसलिए कहनी पड़ रही हैं, इसमें बुरा मानने की आवश्यकता नहीं) मातापिता के संस्कार, उनका व्यवहार उनकी संतानों पर पड़ा करता है। यदि स्वयं ही अच्छे आचरण से, अच्छे व्यवहार से रहेंगे, स्वयं ही सात्विकता को अपनायेंगे और बच्चों में भी उसी तरह के संस्कार डालेंगे तब तो समझिये कि वे मातापिता अपनी संतानों का हित सोच रहे हैं, नहीं तो यह समझ लीजिये कि वे मातापिता उन बच्चों के अहित पर ही उतारू हैं।

ये देखनेमें तो छोटी छोटी बातें हैं, लेकिन ये छोटी छोटी व्यवहार की बातें भी अपना बड़ा महत्व रखती है। अभी से यदि इन छोटी छोटी बातों पर ध्यान दिया जायगा तो आगे चलकर इनका सुधार हो सकता है। उनके सुधार से ही आगे प्रगति करने का रास्ता मिलेगा। और अगर इन छोटी छोटी बातों का ध्यान न दिया तो आगे चलकर इसका परिणाम खराब होगा। इस ब्रह्मचर्य के पाठको आप सब बड़े लोग स्वयं भी पढ़िये और घरके बच्चों को भी पढ़ाइये। आजकल जो अश्लील पुस्तक चली हैं या सनीमा वगैरह जो अश्लील चित्र चले हैं उनकी ओर से उन बच्चों का चित्त हटाकर उन्हें धर्म मार्ग में बढ़ने का प्रोत्साहन दीजिये। उन्हें यदि धार्मिक शिक्षण प्राप्त करने की ओर प्रेरित किया जायगा तो उनकी धर्म की ओर रुचि बढ़ेगी, महा पुरुषों के चरित्र को पढ़कर, इन सतियों के चरित्र पढ़कर उन्हें बड़ी प्रेरणायें प्राप्त होंगी। धन्य हैं वे पुराण पुरुष जिन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन करके अपने जीवन को सार्थक बनाया और दुनियां के सामने अपना जीता जागता आदर्श छोड़ा।—देखिये सेठ सुदर्शन को, उसको डिगाने के लिए रानी के द्वारा कितने कितने प्रयास किये गये, पर वे अपनी ब्रह्मचर्य की साधना में अटल रहे। जरा भी विकारभाव को प्राप्त नहीं हुए। ऐसी जिनकी साधना बनी उनका ही जीवन सफल है। ब्रह्मचर्य की साधना बिना मनुष्य जीवन क्या? उसे तो पशुपक्षियों जैसा जीवन समझिये।

तो हम आपका कर्तव्य है कि शीघ्र ही अपने आपकी सम्हाल करलें और भली प्रकार से जीवन में सुखशान्ति का मार्ग प्राप्त कर लें। बालकों पर मातपिता का कितना असर पड़ता है इस बात को एक दृष्टान्त द्वारा समझिये। एक ब्राह्मण मातपिता का एक पुत्र था। वह पुत्र अच्छे विचारों का था। पुत्र के बड़ा होने पर मातपिता ने कहा बेटा शादी करलो। तो वह शादी करने के लिए सदा मना करता था। जब मां बाप ने बहुत विवश किया तो कहा –अच्छा कर लेंगे, पर अंधी लड़की से करेंगे।–अच्छी बात। (उसका कुछ ऐसा ही विचार था) सो एक अंधी लड़की के साथ शादी कर ली। उससे तीन बच्चे उत्पन्न हुए। एक दिन उसकी स्त्री ने कहा कि आप तो बहुत से मंत्र तंत्र जानते हैं, कृपा कर हमारी आखें खोल दीजिये।–आप आंखें मत खुलवाओ।–क्यों ? बड़ा बुरा होगा। जब न मानी तो खोल दी आंखें। बाद मे फिर उसके एक बच्चा हुआ। एक दिन स्त्री बोली आपने अभी तक हमारी आंखें क्यों नहीं खोली थीं ?–अच्छा बतायेंगे। देखो कल के दिन तुम एक काम करना, तुम रिसाने का बहाना करके खाटपर लेट जाना और रोटी न बनाना। बच्चे अगर पूछें कि मां तुमने खाना आज क्यों नहीं बनाया ? तो कह देना कि तुम्हारे पिता जी हमें मारते है इसलिए आज हमने खाना नहीं बनाया। स्त्री ने वैसा ही किया। खाना न बनाया। तो अंधी दशा में जो पहिला बालक उत्पन्न हुआ था वह आया–पूछा मां आज खाना क्यों नहीं बनाया ?–बेटा तुम्हारे पिताजी हमको मारते है इसलिए नहीं बनाया।–मां आप मेरी मां है। वह मेरे पिता है। खाना दे या न दें पर हमें भूखा तो न रखना चाहिए। इस तरह के विनम्र वचनो में बोला। यो ही जब दूसरे और तीसरे बालकों ने आकर पूछा तो मां ने वही बात कही। उन दोनों ने भी उसी पहिले बालक जैसे विनम्र वचनों में कह दिया, पर जब चौथा बालक (नेत्र खुली दशा में उत्पन्न हुआ बालक) आया और पूछा मां आज तुमने खाना क्यों नहीं बनाया ? –बेटा तुम्हारे पिता जी हमें मारते हैं इसलिए खाना नहीं बनाया।

–अरी मां तुम खाना बनाओ, हम देखते हैं उस बाप साप को। बाद में स्त्रीने सब बालकों द्वारा कही हुई बातें पति को बतायीं। तो पति बोला देखो–ये तीन बालक जो तुम्हारी अंधी दशा में उत्पन्न हुए थे उनके अंदर कैसी विनय है और इस चौथे बालक की उद्दण्डता का ध्यान दो। तुम स्वयं ही परख गयी होगी–बताओ क्या चौथे बालक के गर्भ के समय तुम्हारे भावों में कुछ विचार उठा था क्या ? तो स्त्री बोली–और तो कुछ मलिनता भावों में नहीं आयी, पर एक दिन मैं छतपर खड़ी थी, तो बाहर जाते हुए किसी बलिष्ट नवयुवक को देखकर मन में केवल

यह ही भाव जगा था कि देखो यह कैसा बलिष्ट है —तो अब देख लिया तुमने, तुम्हारे इसी भाव का असर पड़ा है इस बेटे पर। इसलिए मातापिता के विचारों का कितना बड़ा असर उनकी संतानों पर पड़ता है, ऐसा जानकर कभी भी बच्चों के सामने हंसी मजाक आदिक नहीं करना चाहिए और न ही अपवित्र विचारों को उठने देना चाहिए। जीवन में यदि अपने जीवन का उत्थान करना है तो इस ब्रम्हचर्य का पूर्णरूपेण पालन करें। पूर्णरूपेण यदि इस व्रत को पालन करने में असमर्थ है तो स्वदार संतोषवृत्ति से रहें, दुनियां की सारी स्त्रियो को अपनी मा बहिन बेटी आदि की तरह समझें और अपनी स्वस्त्री में भी लंपटता न रखें. वहां भी विरक्ति भाव से रहे। नाना प्रकार की मर्यादाओ में रहें, अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टान्हिका, दशलाक्षणी आदि पर्वो के अवसर पर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहे, और गर्भ में संतान आने से लेकर ३ वर्ष तक ब्रह्मचर्य से रहे। स्त्री संसर्ग न करे, ऐसा करने से होने वाली संतान बलिष्ट होगी, बुद्धिमान होगी, कर्तव्यशील और निरोगी होगी। आप के लिए सुखसाता का कारण बनेगी। इसके विपरीत यदि विषयसेवन की लम्पटता रखी, ब्रह्मचर्य का ध्यान न दिया तो फल यह होगा कि संतान रोगी, बुद्धिहीन और परेशानी तथा चिन्ताओ का कारण बनेगी। उनके द्वारा सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक किसी भी क्षेत्र में कोई उत्थान की बात न बन सकेगी। वह तो सबके लिए भार रूप रहेगी। और उस संतान का भी जीवन स्वयं कष्ट मे व्यतीत होगा। इन सब बातो को भली भांति समझ कर इस ब्रह्मचर्य के पालन का पूर्ण ध्यान दें।

इस कुशील सेवन को अलग से पाप बताया है। इसका कारण यह है कि कामी पुरुष अंधा हो जाता है। बेसुध हो जाता है। उसकी बुद्धि हर ली जाती है। जिस तरह मदिरापान से पुरुष बेहोश हो जाता है उसी तरह कामान्ध पुरुष भी अपना सारा बल समाप्त कर देता है। इस कुशीलसेवन से इस आत्माका कुशल, हित, जड़ से नष्ट हो जाता है। उसे अपने आत्मस्वरूप का भान करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। 'ब्रह्मचारी सदा सुखी शुची'। ऐसा लोग कहते भी है। तो कारण क्या है ऐसा कहने का कि ब्रह्मचारी पुरुषों को पर द्रव्यो में रमण करने की वांछा ही नहीं रही, उन्हें अपने आपकी ओर झुकने का रमण करने का मौका मिलता है। गृहस्थों को जो ब्रह्मचर्य का विधान है उसमें बताया है कि गृहस्थजन स्त्रियो से रागयुक्त वचन व्यवहार न रखें। हास्य युक्त वचन न बोलें। उनके संसर्ग से दूर रहें, तभी वे अपने ब्रह्मचर्य व्रत को उत्तम रीति से निभा सकते हैं। नहीं तो उन्हें पतित होने का भय सदा रहता है। ऐसे पतित पुरुष की दशा

तो सप्तम नरक के नारकी से भी बढ़कर बतायी गई है। कदाचित् सप्तम नरक का नारकी जीव सम्यक्त्व उत्पन्न करले, पर विषयान्ध जीव सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकने का पात्र नहीं।

आज इस दशलक्षण पर्व का अन्तिम दिन है। हम आप सबने दशलक्षण धर्म के प्रवचन इन दश दिनों में मनोयोगपूर्वक सुने। अब इन धर्मों को अपने चित्त में उतारे, अच्छी तरह से उनकी साधना करे तो जीवन में एक नया परिवर्तन आयगा। जैसे आतसीकांच होता है, उसको सूर्य के प्रकाश में रखकर सूर्य की किरणें केन्द्रित की जाये, और पास में कागज के छोटे छोटे टुकड़े रख दिये जावें तो उसका तेज उन टुकड़ो को जलाकर ध्वस्त कर देता है, ठीक इसी प्रकार यदि इन दस प्रकार के धर्म के लक्षणो को यथाशक्ति पालन किया जाय। आत्मा में इन्हें केन्द्रित करे तो इस आत्मारूपी आतसी सीसे मे एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होगी कि उसके तेज से सभी पूर्वबद्ध कर्मरूपी कागज के टुकड़े शीघ्र ही ध्वस्त हो जायेंगे।

अब इन दस प्रकार के धर्म के लक्षणो का क्रम भी इसी प्रकार से है। सर्वप्रथम अपने अदर क्षमा का भाव लाये, संसार के प्राणिमात्र के प्रति करुणा का भाव लावे, अपने आपके आत्मस्वरूप पर क्षमाभाव जगे, फिर इन समस्त प्रकार की कषायभावों पर (क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहादिक पर) विजय प्राप्त करे तो उससे फिर सत्य प्रकट होगा, फिर सयम का धारण होगा। फिर तपश्चरण करना होगा। सब प्रकार के पर पदार्थो का, रागादिक भावों का त्याग करना होगा। सर्व परत्याग से उत्तम आकिचन्य की प्राप्ति होगी। अपने को आकिंचन्यस्वरूप की प्राप्ति होने के बाद आत्मरमण, उत्तम ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होगी। तो इन दसलक्षण धर्मों के पालन का फल भी अत में इस उत्तम ब्रह्मचर्य की प्राप्ति करना है। इस उत्तम ब्रह्मचर्य की प्राप्ति करना कितना दुर्लभ है। इस पर्व को केवल इन दस दिनों में ही नहीं मनाना है परन्तु जीवन भर मनाना है। ये पर्व आते हैं हम आपको सम्बोधन के लिए। जैसे हम आपके इन दिनों में बड़े पवित्र विचार रहते हैं, धर्म पालन की एक धुन सी रहती है, उस तरह के पवित्र विचार, पवित्र धुन, सदा रहना चाहिए। यह बात यदि आ गयी तो इन पर्वो का मनाना सार्थक समझिये और तभी इस आत्मा का कल्याण हो सकता है।

एक बात और भी देखिये–यह काम अनंग है, मनसिज हैं, दुःखकर व्याप्त है, इस काम व्यथा कर व्याप्त जो मन हैं उसमें जैन धर्म का मर्म घर नहीं कर

सकता। अतः धर्म का मर्म पाने के लिए इस काम व्यथा को तिलांजलि देनी होगी। अब इस काम व्यथा का विषयभूत कारण जो स्त्री है। उस स्त्री शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्दों का मर्म पहिचान लीजिये। स्त्री को नारी कहते हैं, नारी का अर्थ है--न अरि, अर्थात् जिस के समान अन्य कोई शत्रु न हो सो नारी। पत्नी, अर्थात् पतन कराने वाली। यह स्त्री इस पुरुष को पतन कराने में कारण है। अबला--अर्थात् जो बलहीन बना दे, यह स्त्री पुरुष को बलहीन बनाने में भी कारण है। वधू जो इस संसार में बंध कराने का कारण है सो वधू। बामा --जो मायाचार से भरी हुई हो सो बामा। बामलोचना--जिसके नेत्रों में कुटिलता भरी हो सो बामलोचना। तो ये सभी शब्द इस बात को बताने वाले हैं कि यह स्त्री महा दुःख और दोषों की खान है। अतः इसका संसर्ग करना विवेकी पुरुषों का कर्तव्य नहीं है। प्रत्येक कल्याणार्थी पुरुष का कर्तव्य है कि वह स्त्री सम्भोग विषयक प्रसंगों से दूर रहकर इस पवित्र ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करे।

इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से सभी प्रकार के पाप कर्मों का त्याग हो जाता है। जहां स्त्री सम्बन्धी राग हटा कि वहां आरम्भ परिग्रह सम्बन्धी सारी बातें स्वतः ही घट जाती है। स्त्री को ही तो घर कहते है। कहीं ईट, पत्थर, चूना आदिक से बनी हुई दिवालों को घर नहीं कहते। घर तो स्त्री ही है। एक इस स्त्री के ही कारण इस पुरुष को आरम्भ परिग्रह के कार्यो में फंसना पड़ता है, इससे उसका वहा से निकलना फिर मुश्किल हो जाता है। वह पुरुष अपने को बद्ध दशा में अनुभव करता है वह ईंट पत्थरों के घर से नहीं बंधता। घर तो दूर ही पड़ा है, पर स्त्री विषयक नाना प्रकार के जो विकल्प जाल हैं उनमें पड़कर यह पुरुष बंधा बंधा फिरता है। तो ऐसी सब बातें जानकर इस स्त्री संसर्ग का त्याग करें और तद्विषयक समस्त पर पदार्थों की लालसा अपने चित्त से हटाकर एक इस आत्मस्वरूप की रक्षा करें, अपने निजभाव में आयें, उसी में स्थिति पायें, यही है उत्तम ब्रह्मचर्य। ऐसे ब्रह्मचर्य का अखण्ड पालन करना यही है वास्तव में जीवन की सार्थकता। इन धर्मो को अपनाना ही हम आपको योग्य है। पर यह बात ध्यान में रखने की है कि एक इस ब्रह्मचर्य धर्म को अपना लेने से ही समस्त धर्म स्वतः ही उसमें आ जाते है। इस उत्तम ब्रह्मचर्य के पाने के लिए इस व्यवहार ब्रह्मचर्य का (लौकिकब्रह्मचर्य का) पालन करना नितान्त आवश्यक है। ऐसा जानकर इस ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करें, समस्त प्रकार के विकार भावों से छूटें और अपने आप में निर्विकल्पता का प्रादुर्भाव करके अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को सार्थक करें। एक बार किसी राजा ने एक साधु के दर्शन किये। राजा

बोला–महाराज आपके पास तो बहुत सी सुन्दर सुन्दर स्त्रियां दर्शन करने को आया करती हैं और जब आप बाजारकी गलियों से निकलते हैं तो मार्ग में अनेक प्रकार की मेवा मिष्ठान की दूकानें भी पड़ती हैं। क्या उनको देखकर आप का चित्त चलित नहीं होता ? तो साधु बोला–इसका जवाब हम आपको बादमें दे देंगे। कुछ दिन बाद में वह साधू राजा को बुलाकर कहता है कि हे राजन, अब तो आपकी उम्र सिर्फ ८ दिन की ही शेष रह गयी, सो जितना चाहे मौज कर लो। तो साधु की बात सुनकर राजा का हृदय काप उठा। अब उस राजा को न राजपाट रूचे, न खाना पीना रुचे, न स्त्री सम्भोग रुचे। मन ही न लगे किसी में। जब ८वां दिन आया तो साधू महाराज उस राजा के महल में पहुचे और बोले–राजन् आपने तो इन दिनों में खूब मनमाने भोग भोगे होंगे न ? तो राजा कहता है कि हमें तो जब से आपने कह दिया तबसे खाना पीना, बोलना–चालना आदि कोई भी चीजें नहीं रुचती। मौज लेने की बात तो दूर रही। हमारी दृष्टि तो मात्र उस मृत्यु के समय पर ही रहा करती है। तो साधु बोला–बस यही उत्तर आपके उस प्रश्न का है। जैसे आप की दृष्टि मृत्यु के दिन पर लगी रही, भोग साधनों पर नहीं, इसी प्रकार हमारी दृष्टि भी मृत्यु पर रहने से भोग साधन नहीं रुचते। मुझे भी यह निश्चय हो चुका है कि मेरा मरण एक दिन अवश्य होगा। इसलिए मै यहां के भोग साधनो से अलिप्त रहकर धर्म साधना कर रहा हूं, क्योकि मृत्यु का और अपने स्वरूप का मुझे पूर्ण निश्चय हो गया है।

तो हम आपको चाहिए कि यहां के सर्व पर पदार्थोको मायामयी, असार, अहितकर, इन्द्र जालवत् जानकर अपने मन को वासनाओं से, विकार भावों से पर सम्पर्क से दूर रखे और इस ज्ञानानन्दब्रह्म मे ही रुचि करें, लीनता करें, रमण करें। जैसा कि पूजन में भी पढ़ते ही हैं कि—

शीलबाड़ नौ राख, ब्रह्मभाव अंतर लखो।
कर दोनों अभिलाष, करहु सफल नरभव सदा॥
उत्तम ब्रह्मचर्य मनआनी, माता बहिन सुता पहिचानी॥
सहैं बानवर्षा बहु सूरे, टिके न नयनबाण लख कूरे।
कूरे तिया के अशुचि तन में, कामरोगी रति करै।
बहु मृतक सड़हिं मसानमांही, काग ज्यों चौंचैं भरें।
संसार में विषबेल नारी, तज गये जोगीश्वरा।
द्यानत धरम दस पैंड़ चढ़कें, शिवमहल में पग धरा॥

(ॐह्रीं उत्तम ब्रह्मचर्य धर्मांङ्गाय नमः)

क्षमावणी पर्व

आज क्षमावणी पर्व का दिन है। हम संसारी जीवों के अज्ञानभाव और कषाय–भावों से अनेक गल्तियां होती रहती हैं। गृहस्थ आश्रम में तो पद-पद पर कषायभाव जागृत होते रहते है। अस्तु हम अपने इस पवित्र पर्यूषण पर्व के इन दस शुभ दिनों मे जो उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिन्चन्य और ब्रह्मचर्य, इन दस धर्मो का यथा सम्भव पालन किया, साथ ही पूजापाठ, जप, तप, स्वाध्याय, दान आदि किया, संयम पाला। यदि ऐसा ही आचरण हम बारह-माह करते रहे तो हमारी आत्मा परम पवित्र निर्विकार बन जावे।

आज का महत्वपूर्ण दिन दीपावली की तरह वर्ष भर के जमा-खर्च करने को इंगित कर रहा है। हम अपने अपराधों का लेन-देन समाप्त करें, याने सब जन अपनी अपनी कषाय निकाल दें, और ह्रदय को माया, बक्रता, कुटिलता से अत्यन्त खाली करके पवित्रता लावें, मलिनता का व्यय करके निर्मलता का लाना ही धर्म पालन है। भैया, आज सावत्सरिक प्रतिक्रमण का दिन है। यह दिवस हम आप साधको को बड़े महत्व का दिन है। यदि ऐसे ही पुनीत दिवसो पर भी हम मलिन भावो का परित्याग नहीं कर सकते तो फिर कब करेंगे? हम आप आज अपने समस्त दोषों का गर्हण, निन्दन करें और आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण की प्रक्रिया से शुद्धि कर लेवें, यही पर्व मनाने की सार्थकता है। प्रमादवश वर्ष भर में अन्य जीवो के प्रति मन, वचन, काय से जो अपराध हुए है उसके लिए आज दिन शुद्ध मन से सभी जीवों से क्षमा याचना की जाती है और सभी जीवों को उनके अपराध के प्रति क्षमा किया जाता है, जिससे सभी प्राणियों के साथ रागविरोध के भाव समाप्त हो जावें और हमें समता रूप धर्म की प्राप्ति हो। इससे आध्यात्मिक शुद्धि होकर आत्मा निर्मलता को प्राप्त कर जन्ममरण की संतति को काटने में समर्थ होती है। भैया, हम चाहे उपवास एकाशन आदि व्रत न करें, किन्तु क्षमा करना न भूलें, क्योंकि क्षमा ही धर्म है, और क्षमा (धर्म) ही चारित्र है। 'क्षमा वीरस्य

भूषणम्,' वास्तव में सच्चा वीर वही होता है जो यदि क्षमा मांगने से संकोच नहीं करता, बल्कि स्वयं अपनी निन्दा करके साम्यभाव को अपनाता है। भैया साम्यभाव की ही महिमा है, जिससे कि पुराण पुरुषो ने स्वय का उद्धार किया और पर का भी। अतएव अपनी कषाय दूर करो और किसी प्राणी से वैर भाव भी हो तो क्षमा माँग लो।

किसी पाप या अपराध बन जाने के बाद हमे अपनी गल्ती स्वीकार करना चाहिए तुरन्त उसका पश्चाताप भी होना चाहिए, कि यह कार्य अच्छा नहीं किया, ऐसा नहीं करना चाहिए। भविष्य मे कभी ऐसा नहीं करूगा। इस प्रकार के विचारो से हृदय की कालिमा बहुत कुछ धुल जाती है और अपराध की स्वीकृति पूर्वक जो क्षमा याचना कर ली जाती है उससे तो पापका भार लघु हो जाता है, और एक अन प्रसन्नता भी हुआ करती है।

अपने अपराध को स्वीकार कर लेना मनुष्य की उच्चता का सूचक है। पाप करके अपने अपराध को ही ठीक समझे, अपनी गल्ती को पुष्ट करे, अपना अपराध स्वीकार ही न करे जान कर भी पाप स्वीकार करने मे अजान सा बने, इन बातो से हमारी आत्मा का भार पापो से और अधिक बढ जाता है। हमारे जीवन को सदैव के लिए अधकारमय बना देगा। अपराध की स्वीकृति से अपराध भी क्षमा हो जाता और वह लोगो की दृष्टि मे भी अच्छा बन जाता है। एक दृष्टान्त है कि एक बार एक राजा अपने राज्य के कैदखाने के निरीक्षण को गया। वहा उस को कड़ी कैदी सजा पाने वाले सख्त मजदूरी का काम करते हुए तीन कैदी मिले। राजा ने उनसे पूछा कि तुम लोग किस अपराध मे दण्ड पा रहे हो। एक कैदी ने कहा कि महाराज एक अपराधी के बदले मे पुलिस ने मुझे पकड़ लिया था और मजिस्ट्रेट ने असल अपराधी की बजाय मुझे जेल भेज दिया है। आपके राज्य मे मै बिना अपराध के ही कष्ट पा रहा हू। दूसरे कैदी ने कहा कि महाराज पुलिस और न्यायधीश स मेरी शत्रुता थी, इस कारण मुझे बिना कसूर ही जेल मे डाल दिया है और मुझे कष्ट दिया जा रहा है। तीसरे कैदी ने कहा कि महाराज मैने सचमुच अपराध किया है, न्यायधीश ने सोच समझकर न्यायपूर्वक ही जो कुछ मुझे दण्ड दिया है वह बिल्कुल ठीक है। इसके विरुद्ध मुझे कुछ नहीं कहना है। सजा समाप्त होनें के बाद मैं प्रयत्न करूगा कि फिर ऐसा अपराध कभी न करू जिससे मुझे ऐसी सजा मिले। तब राजा ने तीनो बदियो से फिर पूछा कि

अच्छा अब तुम क्या चाहते हो ? तो पहिले और दूसरे बंदियों ने कहा कि महाराज हम निरपराध हैं, हमें छोड़ दिया जाय। तीसरे ने कहा–कि महाराज मैं अपराधी हूं, क्षमा किस मुँह से मांगू ? राजा इस तीसरे कैदी की बातें सुनकर प्रसन्न हुआ और उसे तुरन्त ही जेलखाने से मुक्त करा दिया। पहिले और दूसरे कैदी को जेल में ही रहने दिया। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य को अपराध समझने के बाद उसका तुरन्त प्रायश्चित करना चाहिए। अपनी भूल को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है।

परन्तु आज हम इस क्षमावणी का उल्टा ही रूप देखते हैं, कि जिनका जिनसे प्रेम है वे इस दिन एक दूसरे के गले चिपक जाते हैं, बड़ी प्रीति जताते है, प्रेम की बातें करते है। एक दूसरे से बड़ी क्षमा क्षमा की मीठी-मीठी बातें करते हैं, पर जिनसे सचमुच में अज्ञान कषाय, धन, यश, कुटुम्ब, मान, आदिक के कारण तीव्र दुष्मनी बन गई है उनसे बात नहीं करेंगे। उनकी तरफ दृष्टिपात भी नहीं करते। यह क्या क्षमावणी है ? अरे हमारा फर्ज है कि हम इस पर्व के महत्व को समझें, और इन उत्तम क्षमादि धर्मों को जीवन में उतारकर अपना कल्याण करें। आचार्यो ने हमें शिक्षा दी है कि–

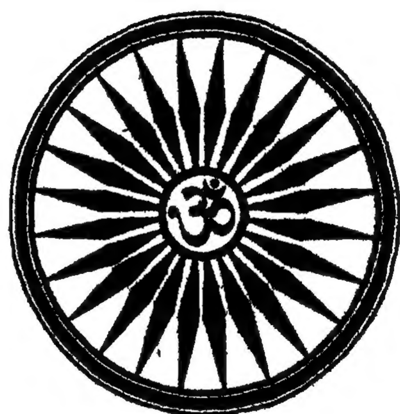
छित्वा प्रशमशस्त्रेण भवव्यसनवागुराम् ।
मुक्तेः स्वयंवरागारं, वीरव्रज शनैः शनैः ॥

अर्थात् हे वीर, तूं शान्तभाव रूपी शस्त्र से सांसारिक कष्टरूपी फांसी को छेदकर मुक्तीरूपी स्त्री के स्वयंबर स्थान को शनैः शनैः जा।

अधिक क्या कहा जावे–

जहां सुमति तहं सम्पति नाना ।
जहां कुमति तहां विपति निधाना ॥

(ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः)


ॐ